

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU 186100

UNIVERSAL
LIBRARY

अर्थात्
भारतवर्ष के प्रसिद्ध महात्माओं की
संक्षिप्त जीवन-कथाओं का संग्रह ।

[द्वितीय भाग]

*Lives of great men all remind us
We can make our lives sublime ;
And, departing, leave behind us
Footprints on the sands of time.
-- Longfellow*

संग्रहकर्ता
चतुर्वेदी-द्वारकाप्रसाद शर्मा

प्रकाशक
नेशनल प्रेस-प्रयाग

करण]

[मूल्य ॥३]

विषय सूची

१—कबीरदास	...	...	१
२—हरिदास योगी	...	...	११
३—यषन हरिदास	...	...	१७
४—साधक रामप्रसाद	...	...	२०
५—रघुनाथदास	...	...	२६
६—उद्धारण ठाकुर	...	...	३४
७—स्वामी विशुद्धानन्द	...	...	३७
८—स्वामी दयानन्द	...	...	४४
९—विवेकानन्द	...	...	५१
१०—श्रीरूप और सनातन गोस्वामी	...	...	७३
११—महात्मा पौहारी बाबा	...	...	८७
१२—गुरु गोविन्दसिंह	...	...	९९
१३—ब्रह्मचारी लोकनाथ	...	...	११७
१४—भक्तवीर विजयकृष्ण गोस्वामी	...	...	१२०
१५—स्वामी रामतीर्थ	...	...	१२६

आदर्श-महांत्मागण

द्वितीय भाग

कबीर दास

आशी के समीप किसी छोटे से ग्राम में कबीरदास का जन्म पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ था। इनके जन्म के विषय में यह प्रवाद प्रचलित है कि एक धार्मिका विधवा ब्राह्मण-बालिका एक साधु की परिचर्या किया करती थी। साधु ने प्रसन्न हो कर ब्राह्मणी को आशीर्वाद दिया कि—“तुम पुत्रवती हो।” आशीर्वाद को सुन ब्राह्मणी डरी और साधु से बोली—“महात्मन् ! यदि मेरे अब पुत्र हुआ तो समाज में मेरी निन्दा होगी, अतः आप कोई दूसरा आशीर्वाद दीजिये । ” इस पर महात्मा ने कहा—जो बात मैं कह चुका वह अन्यथा नहीं हो सकती, किन्तु हाँ समाज में तू निष्कलङ्का समझी जायगी और सब लोग तुझमें श्रद्धा भक्ति करेंगे । ” कालक्रम से उस ब्राह्मणी के सर्वाङ्ग सुन्दर एवं श्रुतक्षणसम्पन्न एक बालक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण के घर में एक विधवा के सन्तान का उत्पन्न होना सुन, लोग निन्दा करेंगे; इस लोकलज्जा एवं लोकभय से ब्राह्मणी ने उस हाल के जन्मे बालक को एक तालाब के किनारे रख दिया। ईलू नामक एक मुसलमान

जुलाहा दैघात् उस तालाब के पास हो कर निकलू। वहाँ इसे हाल के जन्मे एक बालक का रोना सुनाई पड़ा। उसे सुन उसके मन में दया उपजी और उसे वह उठा कर, अपने घर ले गया। ईलू के कोई सन्तान न थी, अतः उसने इस बालक को निज पुत्रवत् पाला और इसका नाम कबीर रखा।

कबीर ने अपने बड़े बूढ़ों के साथ स्वजातीय व्यवसाय की बड़ी उन्नति की। तब जुलाहों की रीति के अनुसार कबीर का विवाह किया गया। कबीर के एक पुत्र था, जिसका नाम कमाल था। कमाल कबीर का औरसजात पुत्र न था। इस विषय में यह जनश्रुति प्रचलित है कि, एक दिन रात के समय कबीर काशी में गङ्गा के किनारे हो कर जा रहे थे। इतने में उन्हें शृगालों का चीत्कार सुनाई पड़ा। कबीर ने दैवीशक्ति के बल से शृगालों के चीत्कार का मर्मार्थ जान लिया। शृगाल कह रहे थे कि, यह मुर्दा गङ्गा के प्रवाह में बहता हुआ किनारे पर आ लगे, तो हम उसका माँस खाकर परितृप्त हों। कबीर ने शृगालों के मन की बात समझ, दैवीबल के सहारे उस मुर्दे को तट पर लगा दिया। किनारे पर मुर्दे को लगते ही मछलियों ने कहा—“हमारे मुख का आस झीनना क्या अन्याय कार्य नहीं है?” मछलियों की बात सुन, कबीर ने मन में स्थिर किया कि, मुर्दा किसी को नहीं देना चाहिये। मैं इसे जीवित करदूँगा। इस प्रकार विचार कर, उन्होंने मुर्दे को जीवित कर दिया और उसका नाम कमाल रख, ये उसे पुत्र की तरह मानने लगे।

कबीर के मन में बहुत ही थोड़ी अवस्था में धर्म और भक्तिभाव उत्पन्न हो गया था। व्यवसाय द्वारा जो वे कमाते

उससे घर का खर्च कर के जो बचता, उसे वे दीन दुखियों को बाँट दिया करते थे । उस समय रामानन्द स्वामी विद्यमान थे । कबीर उनके पास दीक्षा लेने के लिये गये ; किन्तु रामानन्द स्वामी ब्राह्मण को छोड़ अन्य किसी जाति वाले को दीक्षा नहीं देते थे । यह सुन कबीर बड़े उदास और हतोत्साह हुए । कबीर को जब यह निश्चय हो गया कि, स्वेच्छापूर्वक रामानन्द स्वामी हमें दीक्षा न देंगे ; तब अपना काम बनाने के लिये कबीर ने एक कौशल रचा । कहा जाता है कि, जब एक प्रहर रात शेष रह जाती थी, तब रामानन्द स्वामी नित्य गङ्गा-स्नान करने के लिये जाया करते थे । एक दिन कबीर उस घाट पर जा कर, मुर्दे की तरह पड़ रहे, जिस पर स्वामी जी स्नान करने जाया करते थे । दैवसंयोग से उस दिन बदली भी थी और अंधेरा छाया हुआ था । पास की वस्तु भी नहीं दिखलाई पड़ती थी । यथासमय रामानन्द स्वामी स्नान कर के जब लौटने लगे; तब उनका पैर कबीर के ऊपर पड़ा । मुर्दा समझ रामानन्द स्वामी कहने लगे ‘राम कह, राम कह’ । कबीर ने रामानन्द स्वामी के मुख से मूलमंत्र रामनाम की इस प्रकार दीक्षा पायी और कहा—“गुरुदेव ! यही मेरी दीक्षा हुई ।” यह कह कर, उन्होंने गुरु का प्रणाम किया और वहाँ से वे अपने घर लौट आये ।

घर जा कर कबीरदास ने सिर मुड़ाया और माला तिलक धारण किये । कबीर की माता ने उन्हें हिन्दुओं जैसी सजधज में देख कर कहा—“तू पागलों की तरह आज क्यों सजा है ?” कबीर ने उत्तर दिया—“मैं पागल नहीं हो गया; किन्तु रामानन्द स्वामी का शिष्य हुआ हूँ ।” यह सुन कबीर की माता ने समझा कि, रामानन्द स्वामी ने बालक कबीर को फुसला कर, हिन्दू बना

लिया है, अतः उसने अपने पुत्र की ओर से, दिल्ली के तत्कालीन बादशाह सिकन्दरशाह लोदी के दरबार में परियाद की। बादशाह ने कबीर को बुलाया। कबीर तिलक लगा और तुलसी की माला पहन कर, बादशाह के सामने उपस्थित हुए। दरबारियों ने कबीर से कहा कि, तुम ज़मीन चूम कर बादशाह को सलाम करो; किन्तु कबीर ने ऐसा करना अस्वीकार किया और कहा—“मैं राम को छोड़ और किसी को नहीं जानता।” बादशाह इस पर कबीर से असन्तुष्ट हुआ और उन्हें कारागार में बंद करवा दिया। अनन्तर बादशाह ने कबीर का धर्मभाव देख कर और उनकी युक्तियुक्त तर्क से पराजित हो कर, उन्हें धर्ममत प्रचार करने की स्वाधीनता प्रदान की।

सब लोग जानते थे कि, रामानन्द यवन को नहीं छूते, किन्तु जब लोगों ने यह हाल सुना, तब वे रामानन्द स्वामी के पास गये और आश्चर्य में पड़ उनसे कबीर का सारा हाल कहा। तब सारा हाल सुन रामानन्द स्वामी ने कबीर को बुलवाया। कबीर गये; तब रामानन्द स्वामी ने उनसे कहा:—

रामानन्द स्वामी—कबीर ! हमने तुम्हें कब शिष्य किया था ?

कबीर—प्रभो ! उस दिन स्नान कर चुकने पर जब घाट पर मेरे शरीर से आप का पैर छू गया था,
 तब आपने कहा था, “राम कह, राम कह।”
 उसी समय मैंने आपसे दीक्षा ली थी।

कबीर की ऐसी प्रगाढ़ भक्ति देख, रामानन्द स्वामी ने उन्हें अपनी शिष्य-मण्डली में सम्मिलित कर लिया।

रामानन्द स्वामी के बारह शिष्य मुख्य थे, उनमें कबीर ही सर्वप्रधान थे। कबीर बड़े बुद्धिमान् थे। रामानन्द स्वामी के शिष्य हो चुकने के पश्चात्, कबीर ने हिन्दूशास्त्रों की आलोचना की। आलोचना करते करते कबीर एक महाज्ञानी हो गये। यदि धर्म सम्बन्धी कोई शङ्का उनके मन में उदय होती, तो उसकी निवृत्ति के लिये वे अपने गुरुदेव के पास जाते थे; किन्तु विचार के समय, कहते हैं, रामानन्द को परास्त होना पड़ता था। कबीर को दिखावटी धर्म से घृणा सी थी। जब वे किसी ढोंगी साधु संन्यासी को देखते तब वे कह दिया करते थे कि, “जटाजूट बढ़ाने और शरीर में राख मलने से योग नहीं सधता। सच्ची भक्ति को छोड़ और किसी भी उपाय से भगवान् की आराधना नहीं हो सकती।” कबीर की इस बात से अनेक दम्भी उनके शत्रु हो गये और उन्हें कई बार उनके हाथ से कष्ट भी भोगने पड़े; किन्तु भक्तवत्सल दयामय भगवान् की कृपा से उनका कोई कुढ़ भी अनिष्ट न कर पाया। तर्क में सदा परास्त होने के कारण, कहा जाता है, रामानन्द स्वामी अपने शिष्य कबीर की ओर से उदासीन हुए और उनका मन मलिन हुआ। तब कबीर ने रामानन्द के मत को छोड़ कर, अपना एक नया पन्थ खड़ा किया और वे उसका प्रचार करने लगे। रामानन्द वर्णाश्रम धर्म का विचार रखते थे, कबीर ने प्रथम उसीको भङ्ग किया और जाति पाँति का विचार छोड़, वे हरएक को धर्मोपदेश देने लगे। कबीर के मुख से धर्म के निगूढ़ तत्व सुन कर, अनेक लोग उनके शिष्य हो गये। कहा जाता है कबीर ने बिहार, बम्बई, कटक, उड़ीसा आदि प्रान्तों में अपने पन्थ के अनेक मठ स्थापित किये। अब तक कबीरपन्थियों के बारह मठ वर्त्तमान हैं। उन सब में काशी का “कबीर चौरा” प्रधान है।

एक बार कबीर सड़क पर भ्रमण कर रहे थे। इतने में उन्होंने देखा कि, एक मनुष्य बैठा हुआ चक्की पीस रहा है और चने दर रहा है। उसे देख कबीर का मन विषाद-युक्त हो गया। वे सोचने लगे कि—“हाय ! इस प्रकार काल रूपी चक्की में संसार के मनुष्य पिस कर नरक के पथ पर अग्रसर होते चले जाते हैं।” उस समय उन्होंने यह दोहा पढ़ा था:—

दोहा

चलती चक्की देख कर, दिया कबीरा रोय ।

दो पाटन बिच आय के, साबित बचा न कोय ॥

फिर वे कहने लगे कि, चक्की के मध्य में जो कील है उसके पास जो चने रह जाते हैं, वे तो साबुत बने रहते हैं, किन्तु जो इधर उधर चले जाते हैं वे ही पिस कर चक्की के चारों ओर बिखर जाते हैं। अर्थात् जो लोग कोल रूपी भगवान् का आश्रय ग्रहण करते हैं, वे तो बच जाते हैं, शेष सभी दानों जैसी गति को प्राप्त होते हैं।

एक बार कबीर कौतूहलपरवश हो कर, घूमने के लिये बस्ती में गये। जब वे घूम फिर कर अपने आश्रम की ओर लौटे आ रहे थे, तब उनके साथियों ने उनसे पूँछा:—

सहचारीगण—महात्मन् ! बस्ती में आपने जा कर क्या देखा ?

कबीर—बस्ती की दुर्दशा मैं तुमसे क्या कहूँ। वेदविद्-ब्राह्मणों के वंशधर वेदहीन और ज्ञानहीन होते चले जा रहे हैं और शूद्र लोग ब्राह्मणों की

अधिकृत गीता आदि पुस्तकों को पढ़ कर ज्ञान की चर्चा कर रहे हैं। जो धूर्त हैं वे आनन्द से गुलझरें उड़ा रहे हैं; किन्तु साधुओं को मुड़ी भर अन्न के लाले पड़ रहे हैं। जो साध्वी और पतिव्रता स्त्रियाँ हैं, उन्हें पेट भर अन्न मिलना भी कठिन है, किन्तु जो व्यभिचारिणी एवं कुलटा हैं, वे बहुमूल्य वस्त्र पहिन कर सुखमय जीवन व्यतीत कर रही हैं। पण्डितों के उपदेशों के अनुसार कोई नहीं चलता; किन्तु धूर्त कपटी समाज के अगुआ बने बैठे हैं। दूध दही बेचने वाले गली गली मारे मारे फिरते हैं और उनका दूध दही बेचने पर भी नहीं बिकता; किन्तु मदिरा की दूकानों पर मेला सा लगा रहता है और मदिरा की बिक्री खूब होती है।

कबीर के बनाये कई एक ग्रन्थ भी हैं। इन ग्रन्थों में कबीर ने अपने धर्म सम्बन्धी विचार लिपिवद्ध किये हैं। इनके गुरु रामानन्द और शैव सम्प्रदाय के विख्यात अनुयायी गोरखनाथ, कबीरदास के प्रतिद्वन्द्वी थे। इन दोनों से कबीर का जो वादविवाद हुआ था, उसे कबीर ने पुस्तकरूप में प्रकाश किया है। एक का नाम “रामानन्द की गोष्ठी” और दूसरी का नाम “गोरखनाथ की गोष्ठी” है।

सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में, कबीर ने गोरखपुर के निकट मगर नामक ग्राम में देहत्याग किया। मरने पर इनका शव कपड़े से ढक दिया गया। अन्तर उनके शिष्यों में बढ़ा झगड़ा हुआ। हिन्दुओं ने कहा “शव जलाना चाहिए।”

मुसलमान शिष्यों ने कहा—“पीर का शव गाड़ना चाहिये ।” धीरे धीरे दड़्हे की नौबत आयी । इतने में एक ने अचानक कहा—“कपड़े के नीचे शव नहीं जान पड़ता ।” तब विस्मित हो कपड़ा उठाया गया, किन्तु कबीर का मृत शरीर न दिखलाई पड़ा । सारा झगड़ा अपने आप शान्त हो गया । हिन्दू शिष्यों ने आधा कफन चीर कर, जलाया और मुसलमान शिष्यों ने दूसरे अर्द्ध को मगर ग्राम में गाड़ दिया ।

कबीर के दोहों की बानगी

[१]

भली भई जो गुरु मिले, नहिँ तां होती हानि ।
दीपक ज्योति पतङ्ग जिमि, बरता पूरा जानि ॥

[२]

ज्ञान-समागम-प्रेम-सुख दया भक्ति विश्वास ।
गुरु सेवा में पाइये, सत्गुरु शब्द निवास ॥

[३]

साधु भया तो क्या भया, जो नहिँ बोल बिचारि
हते पराई आत्मा, जीभ लिये तलवारि ॥

[४]

जाको गुरु है आन्धरा, चेला कहा कराय ।
अन्धे अन्धे चालिये दोऊ कूप पराय ॥

[५]

पूरा साहिब सेइये, सब विधि पूरा होइ ।
ओछे नेह लगाइये, मूलऊ आवै खोइ ।

[६]

श्रोता तो घर ही नहीं, वक्ता बदे सो बाद ।
श्रोता वक्ता एक घर, तब कथनी को स्वाद ॥

[७]

त्यो लो तारा जगमगे, ज्यो लग उगे न सूर ।
त्यो लो जिय जग कर्मबण, ज्यो लो ज्ञान न पूर ॥

[८]

जैसी लागी और की, तैसी निबहे खार ।
कौड़ी कौड़ी जोरिकै, पूज्यो लक्ष करोर ॥

[९]

साँच बरोबर तप नहीं, भूठ बरोबर पाप ।
जाके हिरदे साँच है, ताके भीतर आप ॥

[१०]

साधू होना चहुहु जो, पक्का के सङ्ग खेल ।
काँची सरसों पेरिके, खरी भई ना तेल ॥

[११]

जाकी जिह्वा बन्द नहीं, हिरदे नहीं साँच ।
ताके सङ्ग नू लागिये, घाले बटिया काँच ॥

[१२]

हीरा परा बजार में, रहा द्वार लपटाय ।
बहुलक मूरख चल गये, पारिख लियो उठाय ॥

[१३]

सपने सोया मानवा, खोलि देख जो नैन ।
जीव परा बहु लूट में, ना कछु लैन न दैन ॥

[१४]

माया त्यागे क्या भया, मान तजा नहिँ जाय ।
जिहि "मैं" ने मुनिबर ठगे, मान सबन को खाय ॥

[१५]

लोहे केरी नावरी, पाइन गरुआ भार ।
स्तिर पर बिष को मोटरी, उतरन चाहे पार ॥

[१६]

सावन केरा मेहरा, बूँद परी असमान ।
सब दुनिया वैष्णव भई, गुरू न लाग्यो कान ॥

[१७]

अर्ब खर्ब लों दर्ब है, उदय अस्त लौं राज ।
भक्ति महातम ना तुले, ये सब कौने काज ॥

हरिदास योगी

धु हरिदास कहाँ के रहने वाले थे, बाल्यावस्था
सा उनकी किस प्रकार व्यतीत हुई, इन बातों
का विशेष विवरण किसी को नहीं मालूम।
उनके शिष्य रामतीर्थ ने महाराज रणजीत-
सिंह के सामने अपने गुरु का जो परिचय दिया था, उसीके
आधार पर उनकी जन्मभूमि आदि का हाल लिखा जाता है।

हरिदास महाराष्ट्र देश में जन्मे थे। जिस समय उनकी
अवस्था सोलह सत्रह वर्ष की थी, उस समय एक सिद्धपुरुष
ने हरिदास के घर के पास आसन लगाया। पूर्वजन्म के
किये हुए मुक्तों के फल से हरिदास उस महापुरुष के शिष्य
होगये। कुछ दिनों बाद वे किसी से कहे सुने बिना ही गुरु
के साथ वहाँ से चल दिये। उनके माता पिता, भाईबंदों ने
उन्हें बहुत ढूँढा, पर उनका कहीं भी पता न चला। कहा
जाता है उस समय हरिदास गुरु के साथ किसी पर्वत की
कन्दरा में बैठ योगाभ्यास करते थे।

इस घटना के बहुत दिनों बाद हरिदास अमृतसर में
दिखलायी पड़े। वहाँ उन्होंने अपने शिष्यों को योगबल
दिखलाया। हरिदास की अलौकिक क्षमता देख, बड़े बड़े लोग
स्तम्भित हुए और पञ्जाब प्रान्त में उनका यश चतुर्दिक्
व्यापी हुआ। लुधियाने के डाक्टर मेकग्रेगर ने स्वरचित्र
मेडिकल टेपोग्राफी को समाप्त करते हुए, अपनी आँखों से
देखा हुआ हरिदास का हाल लिखा है।

हरिदास ने कठोर परिश्रम कर के योगाभ्यास किया था। वे अनखाये और अनसोये छः मास तक पृथिवी के भीतर रह कर जीवित बने रहते थे। पहिली मार्च सन् १८३५ ई० को हरिदास पञ्जाब के जैसलमेर नामक नगर में समाधिस्थ हुए। उस समय वहाँ लेपिटनेश्वर बेली उपस्थित थे। उन्होंने लिखा है कि जिस गढ़े में हरिदास समाधिस्थ हुए थे, वह दो हाथ लम्बा, डेढ़ हाथ चौड़ा और दो हाथ गहरा था। उनके शरीर को कीड़े आदि न बिगाड़ डालें, इससे उनका शरीर रेशमी वस्त्रों से लपेट दिया गया था। हरिदास जब प्राणायाम खींच कर बैठ गये, तब उनके शिष्यों ने उनके शरीर को गेरुआ वस्त्रों से लपेट कर, उन वस्त्रों को सीं दिया। अनन्तर उनको गढ़े में बिठा कर उसका मुख दो भारी भारी पत्थरों से बन्द कर दिया गया। हरिदास के शिष्यगण किसी प्रकार की कारस्तानी न करें, इस भय से जैसलमेर के राजा महारावल के मंत्री ईश्वरीलाल ने उन पत्थरों के ऊपर मट्टी का पलस्तर करवा दिया और जिस घर में वह गढ़ा खांदा गया था, उसका द्वार बन्द करवा दिया गया। इतना कर के भी मंत्री निश्चिन्त न हुए। उन्होंने उस घर के चारों ओर अस्त्रधारी सिपाहियों का पहरा खड़ा कर दिया।

इस प्रकार हरिदास भूमि के भीतर एक मास तक बैठे रहे। पहली अप्रैल, हरिदास के निकालने का निर्दिष्ट दिन था। उस दिन दूर दूर के लोग हरिदास के दर्शन के लिये जैसलमेर में जा पहुँचे। ईश्वरीलाल ने उस घर के चारों ओर घूम फिर कर परीक्षा ली, तदनन्तर दोनों पत्थर खुदवा कर निकलवाये। फिर ईश्वरीलाल ने उन पत्थरों को देखा भाला; किन्तु किसी प्रकार के सन्देह-चिन्ह उन्हें न मिले। तब उन्होंने

योगी को गढ़े से निकालने की आज्ञा दी। शिष्यों ने देखा कि, हरिदास जिस प्रकार बिठाये गये थे, वैसे ही बैठे हुए हैं। उन्होंने योगी को वहाँ से उठा कर मैदान में ला रखा। जब उनके वस्त्र खोले गये, तब हरिदास संज्ञाहीन चतुर्भुज हुए पाये गये। उनके हाथ पैर ऐंठे हुए थे और दाँती बंद थी। जब कई घण्टे तक शिष्यों ने उनकी सेवा शुश्रूषा की, तब वे सचेत हुए। धीरे धीरे उनकी नाड़ी चलने लगी, उन्होंने आँखें खोलीं, किन्तु निर्बलता के कारण वे खड़े न हो सके। हरिदास के शुष्क शरीर में प्राण-सञ्चार हुआ देख, दर्शकों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उनका असाधारण योगबल देख कर और उन्हें ईश्वर का अंश जान; क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, सभी ने उनके सामने जाकर माथा टेका।

हरिदास की अद्भुत क्षमता का हाल चारों ओर बिजली की तरह फैल गया। हरिदास की क्षमता देखने के लिये महाराज रणजीतसिंह ने उन्हें लाहौर बुलाया। साधु राजसभा में उपस्थित हुए। महाराज रणजीतसिंह ने उनसे समाधिस्थ होने को कहा। राजा की आज्ञा न मानना अनुचित समझ, हरिदास ने समाधिस्थ होना स्वीकार किया। रावी नदी के तट पर एक सुरम्य उद्यान में समाधि के लिये स्थान नियत किया गया। जो दिन हरिदास के समाधिस्थ होने के लिये नियत किया था, उपस्थित हुआ। हरिदास उक्त उद्यान की प्राचीर-वेष्टित बारहद्वारी में ले जाये गये। वहाँ रणजीतसिंह, उनके पुत्र कौरकसिंह और पौत्र नौनिहालसिंह एवं शेरसिंह, सुचेतसिंह, हीरासिंह, जनरल बेनचूरा, राजा ध्यानसिंह, रणजीतसिंह के कोषाध्यक्ष बलराम मिश्र आदि अनेक गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। हरिदास समाधि

का पूर्वानुष्ठान पूरा कर, रणजीतसिंह से बोले—“मुझे चालीस दिन में निकालना ।” महाराज ने इस बात को स्वीकार किया और हरिदास ने योगावलम्बन किया । योगासन से बैठने के कुछ ही क्षण बाद हरिदास अचेत हो गये । तब रणजीतसिंह के आज्ञानुसार बलराम मिश्र ने हरिदास को एक सन्दूक में रख कर उसको बंद किया और उसमें ताला डाल दिया । फिर वह सन्दूक बारहद्वारी के बीच में गढ़ा खोद कर, उसमें रख दिया गया और गढ़ा बंद कर के, उस पर जौ बो दिये गये । अनन्तर बारहद्वारी के सब द्वार ईंटों से बन्द करवा दिये गये और पहरा बैठा दिया गया । हरिदास उनतालीस दिन तक इस प्रकार समाधिस्थ रहे । चालीसवें दिन मध्याह्न के समय हरिदास को निकालने का प्रबन्ध किया गया । उन्हें निकालने के पूर्व वहाँ महाराज रणजीतसिंह, पोलिटिकल एजेण्ट केप्टिन बुड, डाक्टर मेकग्रेगर, डाक्टर मरे, जनरल वेन्चूरा, आदि अनेक सज्जन उपस्थित थे । एक एक कर सब ने स्थान की परीक्षा की, किन्तु किसी को किसी प्रकार के सन्देह का कारण न दिखलाई पड़ा । बारहद्वारी के द्वार खोले गये । भीतर जा कर देखा कि समाधि के ऊपर एक हाथ लंबे जो उगे हुए हैं । भूमि खोदने पर सन्दूक निकाल कर देखा गया । वह जैसा पहले बंद किया गया था, वैसा ही पाया गया । महाराज के आज्ञानुसार ताला खोल कर, सन्दूक का ढकना उठाया गया । सब ने देखा हरिदास पूर्ववत् बैठे हुए हैं । रेजिडेन्सी सर्जन मेकग्रेगर एवं डाक्टर मरे ने हरिदास के शरीर के सब अङ्गों की परीक्षा ली । हरिदास का सारा शरीर ठंडा और निर्जीव था । छाती की परीक्षा ली गयी । वहाँ भी फेफड़े गतिहीन पाये गये । आँखों के पलक उठा कर देखे गये,

आँखें पथरा गयीं थीं। जब साधु की सारे शरीर की परीक्षा कर दोनों डाक्टरों ने कहा कि, हरिदास का पुनर्जीवित होना असम्भव है; तब उनके शिष्य गुरु को सचेत करने के लिये विशेष यत्न करने लगे। कई एक घंटे तक शुश्रूषा कर चुलने के बाद हरिदास के जड़ शरीर में प्राण सञ्चार हुआ। हरिदास ने नेत्र खोले ! एक दो बातें भी कहीं, हाथ पैर की नाड़ियाँ चलने लगीं। डाक्टरों ने उनके शरीर की फिर परीक्षा की और वे अवाक् रह गये। संज्ञाहीन साधु ने जब संज्ञा प्राप्त की; तब उनके सन्मानार्थ महाराज ने कई एक तोपें छुटवायीं।

योगबल से हरिदास ने और भी अद्भुत क्षमता सम्पादन कर ली थी। वे जल के ऊपर चल सकते थे और अन्तरिक्ष में ठहरे रहते थे। इन्होंने कितने वर्ष बाद कहाँ अपने शरीर को त्यागा, इसका विशेष वृत्त जानने का कोई उपाय नहीं है; किन्तु लोग कहते हैं कि, हरिदास सौ वर्ष से अधिक इस धरा-धाम पर रहे थे।

यवन हरिदास



शा

के १३७१ के अगहन मास में नदिया ज़िले के अन्तर्गत बूड़न ग्राम में सुमति ठाकुर के औरस एवं गौरी देवी के गर्भ से हरिदास का जन्म हुआ था। हरिदास जिस समय छः वर्ष के थे, उस समय उनके पिता का देहान्त

हुआ और उनकी माता अपने पति के साथ सती हो गयीं। निराश्रय बालक यवनों के हाथ में पड़ कर मुसलमान कर डाला गया। बाल्यावस्था ही से हरिदास अनुराग पूर्वक मुसलमानी धर्म ग्रन्थ पढ़ा करते थे। हरिदास अद्वैत के धर्मानुराग का हाल सुन, शान्तिपुर गये और उनसे मिले। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि अद्वैत समाधिस्थ है। हरिदास, अद्वैत को ध्यानमग्न देख स्वयं ध्यानमग्न होने की क्षमता प्राप्त करने के लिये व्याकुल हुए और अद्वैत के ध्यानभङ्ग की प्रतीक्षा करने लगे। जब अद्वैत का ध्यान भङ्ग हुआ; तब हरिदास ने दीक्षा देने की उनसे प्रार्थना की। हरिदास को स्लेच्छ समझ अद्वैत ने प्रथम तो उन्हें शिष्य करना अस्वीकार किया; किन्तु पीछे उनकी विनय, सरलता एवं व्याकुलता देख, अद्वैत ने हरिदास को हरिनाम की दीक्षा दी। हरिदास हरिभक्तपरायण हो कर सदा हरिनाम जपने लगे। जप करने के लिये कुनिया ग्राम के पास निर्जन स्थान में उन्होंने एक कुटी बनवायी वे उसी कुटी में बैठ एकान्त में मन से जप करने लगे।

हरिदास मुसलमानी धर्म को छोड़, हिन्दुओं की तरह हरिनाम जपने लगे। जब यह हाल स्थानीय काज़ी को मालूम हुआ

तब वह उन पर बहुत अप्रसन्न हुआ और उनको फिर मुसलमानी धर्म में लाने के लिये अनेक प्रयत्न भी किये, किन्तु उसके सब यत्न विफल हुए। तब काज़ी ने हरिदास को दण्ड दिलाने के लिये नवाब के पास भेजा। नवाब बहादुर ने काज़ी के परामर्श से हरिदास के बेल लगाये जाने की आज्ञा दी। हरिदास बेलों की मार से अचेत हो गिर पड़े। सब ने जान लिया कि, हरिदास मर गये। हरिदास की दशा देख, काज़ी ने नौकरों को उन्हें कब्र में गाड़ने की आज्ञा दी। जब हरिदास को गाड़ने के लिये नौकर उठा कर कब्रस्थान में ले गये और कब्र खोदने लगे, तब हरिदास सचेत हुए। यह हाल नौकरों ने जाकर काज़ी जी से कहा। काज़ी साहब ने जीवित मनुष्य को कब्र में गड़वाना धर्म-विरुद्ध समझा, हरिदास को जल में डुबाने की आज्ञा दी। हरिदास गङ्गा में डुबो दिये गये; किन्तु बहते बहते वे तट पर जा लगे। वे काज़ी के डर से सप्तग्राम के अन्तर्गत चाँदपुर ग्राम में बलरामाचार्य के घर में जा छिपे। आचार्य बड़े हरिभक्त थे। उन्होंने भगवद्भक्त हरिदास को बड़ी प्रीति के साथ अपने घर में रखा। उस समय मुसलमान ऐसे अपवित्र माने जाते थे कि, यदि कोई मुसलमान किसी हिन्दू के घर में चला जाय, तो वह हिन्दू घर की सारी सामग्री उठा कर फेंक देता था और यदि कोई हिन्दू किसी मुसलमान को छू लेता, तो वह पतित होजाता था। ऐसे कठिन सामाजिक नियमों के रहते भी बलरामाचार्य ने यवन हरिदास को अपने घर में रखा।

हरिदास ने भक्तावास रूप अभेद्य दुर्ग में आश्रय ग्रहण कर मन भर कर हरिनाम जपा। कभी तो प्रेमरस में भरने के कारण हरिदास के दोनों नेत्रों से गङ्गा यमुना की धारा की तरह अवि-रल अश्रु प्रवाहित होते थे और कभी उन्मत्त की तरह वे

नाचने लगते थे। हरिदास की दशा देख ग्रामवाले कहने लगे कि, बलरामाचार्य ने एक पागल पाल रखा है।

उन्हीं दिनों नवाब के तहसीलदार गोबर्द्धनदास का एक-मात्र पुत्र रघुनाथदास बलरामाचार्य के पास पढ़ा करता था। उसने हरिदास के हरिनामकीर्तन से मुग्ध हो कर, लिखना पढ़ना छोड़ दिया। पुत्र की दशा देख तहसीलदार ने अपने आचार्य से कहा कि, हरिदास के रहने के लिये अन्यत्र कुटी बनवा दो। हरिदास को जब यह बात मालूम हुई तब वे शान्तिपुर में जा कर, गङ्गा के तट पर रहने लगे। वहाँ हरिदास नये उत्साह और अनुराग के साथ प्रफुल्ल मन और उच्चैः स्वर से हरिनाम-कीर्तन करने लगे। नित्य एक लाख हरिनाम जप किये बिना हरिदास जल ग्रहण नहीं करते थे। उनकी भक्ति और उनका विशुद्ध चरित देख कर लोग उनमें श्रद्धा एवं भक्ति करने लगे।

अनेक जमींदारों ने मिल कर, हरिदास की तपस्या में विघ्न डालने के लिये एक दिन, रात के समय एक दुश्चरित्रा स्त्री को उनकी कुटी में भेजा। वह वेश्या कुटी में गयी। हरिदास ने उससे कहा कि, जब तक मैं जप न कर लूँ, तब तक तुम ठहरो। किन्तु सारी रात बीत गयी, पर हरिदास का जप पूरा न हुआ। वह वेश्या अगले दिन सन्ध्या होते ही हरिदास की कुटी में पहुँची, और व्यङ्ग करती हुई उनके पास बैठ कर, उनका अनुकरण करती हुई हरिनाम जपने लगी। वह बार-बिलासिनी कई एक घंटे तक वहाँ बैठ कर और हरिदास पर अप्रसन्न हो कर, वहाँ से उठ कर चली आयी। धन के लोभ में पड़, वह बारबनिता तीसरे दिन फिर हरिदास की कुटी में

गयी और पिछले दिन की तरह उनके पास बैठ कर जप करने का बहाना करने लगी। बहाना करते करते कुछ त्राण के बाद वह चाराङ्गना हरिनाम के प्रेम में उन्मत्त हो कर और पूर्वकृत पापों की ग्लानि से दग्ध हो कर, हरिदास की शिष्या हो गयी।

इस घटना के बाद हरिदास नवद्वीप गये और वहाँ वैष्णव-मण्डली में सम्मिलित हुए। हरिदास की भक्ति और प्रेम को देख वैष्णव साधु मोहित हुए। उस समय प्रभु चैतन्यदेव नीलान्नल पर थे। अतः हरिदास भी वहाँ गये और वहाँ साधु वैष्णवों की मण्डली में रह कर, आनन्दपूर्वक शेष जीवन व्यतीत करने लगे। चैतन्यदेव के निरोभाव होने के पूर्व ही हरिदास का देहान्त हुआ। हरिदास के अन्तिम काल को उपस्थित देख, चैतन्यदेव शिष्यों सहित उनके आश्रम में गये और उन सब ने मिल कर हरिकीर्तन किया। हरिदास ने भी हरिनाम कीर्तन करते करते देह त्यागी। हरिदास का जीवनान्त हुआ। हरिनाम कीर्तन करते हुए चैतन्य प्रभु ने हरिदास के शव को समुद्र के तट पर बालुका में समाधिस्थ कर दिया।

साधक रामप्रसाद

हालि नगर के अन्तर्गत “कुमारहट्ट” या कुमार हाट्टी ग्राम में, १६४० से १६४५ शके के भीतर रामप्रसाद ने वैद्यकुल में जन्म ग्रहण किया था । जिस स्थान में इनका जन्म हुआ था, इस समय उस स्थान का चिन्ह तक नहीं रहा है ।

रामप्रसाद के पिता का नाम रामसेन था । ये जितने दिनों जीवित रहे; उतने दिनों इन्होंने पुत्र के पढ़ाने लिखाने का समुचित प्रबन्ध रखा । फल यह हुआ कि, थोड़े ही दिनों में रामप्रसाद को संस्कृत, फारसी एवं बङ्गला साहित्य में अच्छी योग्यता प्राप्त हो गयी । लोग कहते हैं कि, रामप्रसाद ने सोलह वर्ष की अवस्था ही में अपनी कवित्व शक्ति का परिचय दिया था । रामप्रसाद का तंत्रशास्त्र की ओर अनुराग विशेष था और कौलाचारधर्म में वे श्रद्धा रखते थे । रामप्रसाद ज्ञानांश से नितान्त हीन न थे । इसके प्रमाण उनकी बनायी पद्यावली में पाये जाते हैं ।

थोड़ी ही अवस्था में रामप्रसाद के सिर पर गृहस्थी का भार आ पड़ा । पिता की मृत्यु के बाद नौकरी की खोज में रामप्रसाद कलकत्ते गये । कहते हैं उस समय वे १७। १८ वर्ष के थे । वें कलकत्ते में या उसके निकट बसने वाले किसी धनी के यहाँ लेखक (मुहर्रिर) के पद पर नियुक्त किये गये । कोई कहता है वे दीवान गोकुलचन्द्र के यहाँ और कोई कहता है कि, वे दुर्गाचरण मित्र के यहाँ नौकर हुए । जो हो, इन्होंने बड़े परिश्रम के

साथ सेवा की। रामप्रसाद नित्य जमा खर्च निकाल कर खाते में लिखते और जो उसमें कौरी जगह बच रहती उसमें भक्ति-रसाभियुक्त काली-गुणानुवाद पुरित एक पद लिख दिया करते थे। रामप्रसाद बाल्यावस्था ही से धर्मभीरु और काली के भक्त थे। एक दिन उनके ऊपर के कर्मचारी ने देखा कि, रामप्रसाद ने जमींदारी के पक्केखाते में जगह जगह गीत लिख कर उसे नष्ट कर डाला है। यह देख वह बहुत अप्रसन्न हुआ और उस खाते को ले जाकर उसने अपने मालिक के सामने रखा।

रामप्रसाद के प्रभु ने खाते के प्रथम पृष्ठ पर लिखा हुआ गीत दो तीन बार पढ़ा और भाव में गद्गद हो कर रामप्रसाद को बुलाया। रामप्रसाद वहाँ भट जा पहुँचे। उन्हें देख उनके प्रभु ने आँखों में प्रेमाश्रु भर कर कहा—“रामप्रसाद ! तुम बड़े साधु पुरुष हो। तुमको नौकरी करने की आवश्यकता नहीं। हम तुमको तीस रुपये मासिक दिया करेंगे। तुम जहाँ चाहो वहाँ सुखपूर्वक रहो।”

इस घटना से रामप्रसाद के भावी जीवन का पथ परिष्कृत हुआ। रामप्रसाद घर आकर काली के गुणानुकीर्तन में लगे और पञ्चमुण्डी आसन बना, करालवदना काली की साधना करने लगे। इतने में रामप्रसाद की आय और भी बढ़ी। जिस किसी को कीर्तन आदि कराना होता वह रामप्रसाद के पास आ कर नवीन पद्य बनवा ले जाता और काली तथा कवि को नाना प्रकार की भेंट और पुरस्कार दे जाता था। रामप्रसाद की आय, व्यय की अपेक्षा अधिक थी तथापि वे अर्थानुरागी न थे। यदि कोई पात्र आ कर उनसे कुछ माँगता, तो वे यथासाध्य उसे देने में आनाकानी नहीं करते थे।

रामप्रसाद ने कब विवाह किया इसका पता चलना कठिन है। कोई कोई कहते हैं कि रामप्रसाद ने १६ वर्ष की अवस्था में विवाह किया था। लोग कहते हैं कि रामप्रसाद की अपेक्षा उनकी स्त्री अधिक सौभाग्यवती थी। क्योंकि उसे स्वप्न में प्रायः काली माई के दर्शन हुआ करते थे। रामप्रसाद ने एक जगह लिखा है:—

पद्य

“धन्य दारा स्वप्ने तारा प्रत्यादेश तारे ।
 आमि कि अश्रम एत वैमुख आमारे ॥
 जन्मे जन्मे बिकायेछि पादपद्मे तल ।
 कहिवार कथा नय विशेष कि कब” ॥

इससे अनुमान होता है कि, रामप्रसाद की स्त्री भाग्य-वती थी।

कुमारहट्ट ग्राम महाराज कृष्णचन्द्र राय की ज़मींदारी में था। यह ग्राम भागीरथी के तट पर होने के कारण महाराज ने वहाँ एक धर्मशाला और वायुसेवन के लिये एक भवन बनवाया था। अवकाश मिलने पर वे उस ग्राम में जा कर विश्राम किया करते थे। रामप्रसाद की प्रशंसा सुन, महाराज कृष्णचन्द्र राय का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ। लोग कहते हैं कि, महाराज कृष्णचन्द्र राय ने चाहा था कि, रामप्रसाद को मासिक वेतन देकर उन्हें अपने सहासदों की श्रेणी में सम्मिलित कर लें और इसके लिये उन्होंने प्रयत्न भी किया था; किन्तु रामप्रसाद सहमत नहीं हुए। इस पर महाराज असन्तुष्ट भी नहीं हुए, किन्तु रामप्रसाद के गुणों पर मुग्ध

हो कर, उन्हें महाराज ने “कधिरञ्जन” की उपाधि से भूषित किया और उनका उत्साह बढ़ाने के लिये उन्हें १४ बीघा माफी की भूमि प्रदान की।

राजदत्त उपाधि प्राप्त कर और उसके गौरव की रक्षा के लिये रामप्रसाद ने “विद्यामुन्दर” नामक एक ग्रन्थ बनाया। जब महाराज कृष्णचन्द्र कुमारहट्ट में फिर गये; तब उन्होंने यह ग्रन्थ महाराज को सुनाया; जिसे सुन महाराज बहुत प्रसन्न हुए और कवि की प्रशंसा की। कुमारहाटी में अच्युत नामक एक गोस्वामी रहा करते थे। वे आजू गुसाई के नाम से प्रसिद्ध थे। इनमें अद्भुत रचनाशक्ति विद्यमान थी। आजू जब रामप्रसाद की रचना सुनते, तब वे परिहास रसात्मक तुरन्त उसका उत्तर दे, रामप्रसाद को परास्त करने की चेष्टा किया करते थे। महाराज कृष्णचन्द्र कभी कभी उन दोनों को एकत्र कर आमोद प्रमोद किया करते थे।

रामप्रसाद एक बार महाराज के साथ मुर्शिदाबाद गये। वहाँ वे नाव में बैठ कर, एक दिन गा रहे थे। दैवयोग से नवाब सिराजुद्दौला नाव में बैठे उनकी नाव के पास से होकर निकले। उन्होंने रामप्रसाद को अपनी नाव में बुला कर बिठा लिया और उनसे गाने के लिये कहा। रामप्रसाद ने पहले हिन्दी में गीत गाना आरम्भ किया, किन्तु नवाब ने कहा कि, तुम महाराज की नाव में बैठ कर जो गीत गाते थे, वही गाओ। यह सुन रामप्रसाद ने काली के गुणानुवादयुक्त करुण स्वर से एक ऐसा गीत गाया कि, उसे सुन नवाब का पाषाण हृदय भी पसीज गया।

रामप्रसाद शक्त थे और शक्ति के उपासक थे। वे पञ्चवटी के नीचे पञ्चमुण्डी आसन बना और उस पर

बैठ कर साधना किया करते थे । यह आसन अभी तक विद्यमान है ।

रामप्रसाद के विषय में अनेक अलौकिक किम्बदन्तियाँ प्रचलित हैं । उनमें से जिन पर लोगों का अधिक विश्वास है, उनमें से एक दो नीचे लिखी जाती हैं ।

एक दिन रामप्रसाद मन ही मन काली के गुणानुवाद गाते हुए बाड़ा बाँध रहे थे और बाड़े के ऊपरी भाग पर उनकी कन्या जगदीश्वरी बैठी हुई, उनको सहायता दे रही थी । इतने में जगदीश्वरी वहाँ से कहीं चली गयी । रामप्रसाद को इसकी कुछ भी खबर न हुई । वे अपने काम में लगे रहे । जगदीश्वरी ने लौट कर देखा कि, बाड़ा बहुत सा बँध गया है । यह देख उसने पिता से पूँछा कि, आपको रस्सी कौन देता था । इस पर रामप्रसाद ने कहा कि, तू ही तो रस्सी दे रही थी । तब जगदीश्वरी ने कहा—मैं तो बहुत देर से घर में थी । इस पर रामप्रसाद ने कहा कि, यदि ऐसा है तो साक्षात् माता काली कन्या स्वरूप धारण कर, मेरी सहायता करने आयी थीं ।

एक दिन रामप्रसाद जब गङ्गास्नान कर के घर आये; तब उन्होंने सुना कि, एक स्त्री बहुत दूर से उनका गाना सुनने के लिये आयी है और वह चण्डी-मण्डप में बैठी है । रामप्रसाद चण्डीमण्डप में गये और देखा कि, वहाँ वह नहीं है केवल दो बालिका खेल रही हैं । रामप्रसाद ने उनसे उस स्त्री के विषय में पूँछा तो उन्होंने उत्तर में कहा—“हाँ एक स्त्री आयी तो थी और वह कह गयी है कि, काशी में आ कर तुम हमें अपना गमना सुनाओ ।” तब रामप्रसाद ने जाना कि, काशी से स्वयं अन्नपूर्णा उनका गाना सुनने के लिये आयी थीं ।

रामप्रसाद गीले कपड़े पहने उसी तरह, अपनी माता को ले कर और “मन चलरे बाराणसी” गाते हुए काशी की ओर चल खड़े हुए । वे रात को त्रिवेणी के पास किसी ग्राम में ठहरे । रात को अन्नपूर्णा ने उनसे स्वप्न में कहा—“ रामप्रसाद ! फिर तुम्हारा यहाँ आना न होगा, तुम हमें यहीं बैठ कर अपना गाना सुनाओ ”। रामप्रसाद ने वैसा ही किया ।

कविरञ्जन रामप्रसाद के बनाये तीन काव्य हैं; जिनके नाम ये हैं, “कालीकीर्त्तन, “कृष्णकीर्त्तन” और “विद्यासुन्दर” । इन तीनों पुस्तकों में “कालीकीर्त्तन” ही सब से बढ़कर है। भावुक यदि “ कालीकीर्त्तन ” पढ़े, तो उसे बड़ा आनन्द प्राप्त हो ।

पुराने समय के लोग कहते हैं कि, श्यामा की प्रतिमा के विसर्जन करने का दिन जब आया, तब रामप्रसाद ने अपने आत्मीय एवं कुटुम्बियों को बुला कर कहा—“आज माता के विसर्जन के साथ ही साथ हमारा भी विसर्जन होगा ।” यह कह कर, रामप्रसाद ने काली की प्रशंसा में कई एक नये गीत बनाये और उनको गाते हुए वे प्रतिमा के पीछे पीछे जाने लगे । वे गङ्गातट पर पहुँच कर बोले “दक्षिणा हयेछे ।” यह कहते ही उनका ब्रह्मरन्ध्र फटा और प्राणवायु निकल गया ।

रामप्रसाद की मरते समय कितनी अवस्था थी, यह जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है; किन्तु अनुमान से जाना जाता है कि उन्होंने ६०-६५ वर्ष की अवस्था में देह को त्यागा था।

धुनाथदास


 हा प्रभु चैतन्य देव ने जिस समय बङ्गाल में
 भक्तिरस का प्रवाह बहाना आरम्भ किया,
 उसी समय हिरण्यदास और गोबर्द्धनदास
 नामक दो मनुष्यों ने गौड़ के नवाब से
 सप्तग्राम का अधिकार पाया। उस समय सप्तग्राम वाणिज्य का
 प्रधान नगर था। औदहवीं शताब्दी में दिल्ली के बादशाह के
 प्रतिनिधि हुसेनपाशा ने गौड़ नगर में अपनी राजधानी बनायी
 थी। उस समय श्रीमद्रूप सनातन गोस्वामी उनके वजीर थे।
 सप्तग्राम का अधिकार प्राप्त करने में उक्त दोनों को सनातन
 गोस्वामी से बड़ी सहायता मिली थी। कहा जाता है, उस
 समय सप्तग्राम से हर साल बीस लाख रुपये की आय होती
 थी। इनमें से गौड़ के नवाब को केवल बारह लाख रुपये देने
 पड़ते थे। शेष आठ लाख रुपये का मुनाफा होता था। चार
 पाँच सौ वर्ष पहले के आठ लाख रुपये आज कल के एक
 करोड़ रुपये के बराबर थे। इसमें तिल भर भी सन्देह नहीं।
 इतने विपुल धन के अधिकारी होने पर भी उनका सरल
 स्वभाव था और वे धर्मानुरागी थे। उनकी आय का अधिकांश
 भाग अच्छे कार्यों ही में व्यय होता था। दौल, दुर्गात्सव, पूजा
 पार्वणादि का तो कहना ही क्या था? इनके अतिरिक्त देवालय-
 प्रतिष्ठा, अतिथिशाला प्रभृति आदि अनेक सत्कार्यों में
 उनका धन लगता था। जिस प्रकार आज कल के धनी मानियों
 के द्वारों में खुशमसखरे और हाँजी या हाँ हुजूर कहने वाले

चापलूस रहते हैं, वैसे लोग उनकी सभा में नहीं रहने पाते थे। उनकी सभा, भागवतज्ञ वैष्णवों एवं पण्डितों से भरी रहती थी।

हिरण्यदास और गोवर्द्धनदास दोनों सगे भाई थे। हिरण्यदास बड़े थे और गोवर्द्धनदास छोटे थे। गोवर्द्धनदास के औरस से १४१३ या १४१४ शाके में रघुनाथदास का जन्म हुआ था। जब रघुनाथदास पाँच वर्ष के हुए, तब उन्हें विद्यारम्भ कराया गया और विद्याभ्यास करने के लिये सात वर्ष तक वे गुरुगृह में रहे।

सप्तग्राम में चाँदपुर नामक एक छोटासा ग्राम है। वहाँ उनके कुलपुरोहित बलरामाचार्य रहा करते थे। रघुनाथ इन्हीं के पास पढ़ा करते थे। जिस समय रघुनाथदास बारह वर्ष के थे, उसी समय बलरामाचार्य के यहाँ काजी के भय से पीड़ित यवन हरिदास ने आचार्य का आश्रय ग्रहण किया था। * हरिदास रात दिन हरिकीर्तन किया करते थे और कभी कभी भाव में डूब कर उन्मत्तों की तरह नाचने लगते थे।

आचार्य के घर जितने बालक पढ़ने जाते वे हरिदास को चिढ़ाने के लिये उनके शरीर पर कोई तो गोबर मलता, कोई धूल डालता और कोई कीचड़ मला करता; किन्तु केवल रघुनाथ के हृदय पर हरिदास के हरिनाम-कीर्तन का यथेष्ट प्रभाव पड़ता था। धीरे धीरे रघुनाथ का मन पढ़ने लिखने से उचटा और जब गुरु जी कहीं कार्यवश चले जाते; तब रघुनाथ अवसर पा कर, हरिदास के पास जाते और उनकी दशा देख, उनके साथ साथ हरिनाम कीर्तन करने लगते थे। यह

* इस कां विस्तृत हाल 'यवन हरिदास' की कथा में पढ़ो।

देख गोवर्द्धनदास के हितू नातेदार कानाफूँसी कर, आपस में कहने लगे कि,—“यह भाँड मुसलमान, एक भले आदमी के एक-मात्र वंश-तिलक बालक को पागल बनाये डालता है।” उनकी इस प्रकार की कानाफूँसी का परिणाम यह हुआ कि हरिदास को सप्तग्राम छोड़ कर शान्तिपुर जाना पड़ा।

हरिदास तो सप्तग्राम छोड़ कर चले गये, किन्तु इस परिवर्तन से रघुनाथ का मन परिवर्तित न हो सका, वे अन्य कार्यों के साथ साथ बड़े बूढ़े लोगों के पास बैठ कर धर्मालोचना में भी कुछ समय बिताने लगे। लड़कपन ही से रघुनाथ के मन में सुख-विलास की आर से वैराग्य उदय हुआ। सुन्दर सुन्दर कपड़े, बहुमूल्य-आभूषण, सुखदायी पदार्थ, सुस्वादु भोजन, चापलूसों की चिकनी चुपड़ी बातें, दास दासियों की सेवा इत्यादि धनियों के बालकों को प्रसन्न रखने वाली जितनी बातें हैं, उन सब को विपवत् परित्याग कर, रघुनाथदास वैराग्य का परम सुख भोगने लगे।

जिस समय चैतन्यदेव शान्तिपुर में थे, उसी समय रघुनाथ वहाँ गये और साधुओं के साथ बैठ कर, समय बिताने लगे और मन ही मन कहने लगे कि,—“हे दयामय हरि ! मैं किस प्रकार इस संसाररूपी कारागार से मुक्त हो कर, अपना सारा जीवन साधुसङ्ग में बिता सकूँगा ?” महाप्रभु चैतन्यदेव रघुनाथ का मनोभाव समझ गये और शान्तिपुर से चलते समय उन्होंने रघुनाथदास से कहा:—

चैतन्यदेव—मनुष्य एक साथ भवसिन्धु के पार नहीं जा सकता। वैराग्य अति पवित्र वस्तु है। दूसरों को दिखाने के लिये जो वैराग्य धारण

करते हैं, उनका सारा धर्म नष्ट हो जाता है। जो साधक बाहिरी विषयों को भोग करता हुआ, भीतर सम्पूर्ण रीत्या वैराग्य धारण करता है वही यथार्थ वैरागी है। बेटा ! अभी तुम घर लौट जाओ और सांसारिक कार्यों को करते हुए, किसी विषय में आसक्त न हो। ऐसा करने से भगवान् उद्धार का कोई मार्ग तुम्हें बतला देंगे। जो मनुष्य उनके शरण होता है उसे अपने उद्धार के लिये उपाय खोजने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। तुम भगवान् के चरण-कमलों में अपना मन समर्पण कर और निश्चिन्त होकर, अपने घर जाओ।

रघुनाथ, महाप्रभु से ऐसा गूढ़ एवं स्नेहपूर्ण उपदेश पाकर, अपने को बड़ा भाग्यवान् समझने लगे और उनकी आज्ञानुसार कार्य करने लगे। वे घर गये और गृहस्थी के कार्य करने लगे। पिता और चाचा जो कार्य देखते भालते थे, उन कार्यों का सारा भार रघुनाथदास ने स्वयं उठा लिया और बड़े सुख से वे रहने लगे। एक दिन रघुनाथदास ने सुना कि, नित्यानन्द कलकत्ते से चार कोस उत्तर की ओर पानसटो ग्राम में हरिनाम का प्रचार करते हुए बिचर रहे हैं। वहाँ जाने के लिये रघुनाथदास ने अपने पिता से आज्ञा माँगी। गोबर्द्धन ने तो आज्ञा दे दी, किन्तु उनकी सहधर्मिणी ने अपनी प्राणाधिक सन्तान को भक्तों के दल में जाकर सम्मिलित होने से रोका। इस पर गोबर्द्धनदास ने कहा:—

गोबर्द्धनदास—जब पुत्र धर्मगत प्राण हो रहा है, तब एक साथ उसे साधुसङ्ग से रोकना ठीक नहीं।

पेसा करने से उद्वेग बढेगा और इससे और भी अधिक अनिष्ट होगा ।

इस प्रकार समझाने पर रघुनाथदास की माता समझ गयी । फिर माता पिता की अनुमति ले रघुनाथदास नित्यानन्द से जाकर मिले । रघुनाथदास ने नित्यानन्द को प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर कहा:—

रघुनाथदास—“प्रभो ! मैं बड़ा नराधम हूँ । मेरे मन में चैतन्यदेव के पादपद्म लाभ की वासना क्यों उत्पन्न हुई है, यह मैं नहीं कह सकता । जब मेरे किये कुछ नहीं हो सका ; तब हार कर मैंने आपके चरणों का सहारा लिया है । आपकी कृपा को छोड़ मुझे श्रीचैतन्य से मिलाने के लिये और किसी पर भरोसा नहीं । आप एक बार इस नराधम के मस्तक पर अपना चरण रख कर, आशीर्वाद दीजिये, जिससे मैं निश्चिन्त हो सकूँ ।”

नित्यानन्द ने रघुनाथ दास की इस प्रकार कातर वैराग्योक्ति सुन कर, भक्तों को सम्बोधन करते हुए कहा:—

नित्यानन्द -देखो इसमें बादशाह के समान क्षमता है, इसके पास कुबेर जितना धन है, और इसका इन्द्र जैसा ऐश्वर्य है । जिसे पाने के लिये सैकड़ों सहस्रों लोग, इस लोक और परलोक को भूल कर अनेक अनकरने और घृणित कर्म कर बैठते हैं, उसको यह तुच्छ समझ कर, विषयवत् परित्याग करना चाहता है । रघुनाथ !

हम सब तुमको हृदय से आशीर्वाद देते हैं कि, तुम शीघ्र ही अपनी चिरवाञ्छित वस्तु प्राप्त करो ।

रघुनाथदास भक्तों का आशीर्वाद ग्रहण कर अपने घर लौट आये और उत्कट व्रत धारण कर, हरिनाम जपते हुए समय बिताने लगे । जब इस प्रकार कई वर्ष बीत गये, तब एक दिन आधी रात के समय, अतुल पेश्वर्य को छोड़ एवं लक्ष्मी-समा भाग्या और “स्वर्गादिपि गरीयसी” जननी के हृदय में काँटा चुभा और आकाश की अपेक्षा महीच पिता को नैराश्य सागर में डुबा कर, अपने अभिलषित द्रव्यलाभ की आशा से रघुनाथदास चुपचाप श्रीक्षेत्र की ओर चल दिये । रघुनाथ बहुत सा कष्ट, बहुत सा परिश्रम सह कर, अनखाये और बिना सोये कई दिनों तक बराबर चल कर, पुरी में पहुँचे । वहाँ पहुँच कर, चैतन्य देव और प्रत्येक भक्त को प्रणाम कर, प्रेमालिङ्गन किया ।

रघुनाथ मार्ग में कैसे कष्ट सह कर पुरी में पहुँचे थे, यह बात चैतन्यप्रभु से छिपी न रही । उन्होंने अपने परिचारक गोविन्द को बुला कर कहा—“ देखो, रघुनाथ को रास्ते में अनेक कष्ट भोगने पड़े हैं, कई दिन तक इसने उपवास किया है, तुम इस पर कुछ दिनों तक विशेष दृष्टि रखना ।” साथ ही रघुनाथ से कहा—“तुम समुद्र में स्नान कर, यहीं आकर भोजन करना ।” रघुनाथ स्नान और देव दर्शनादि क्रिया पूरी कर, गोविन्द के पास आये । गोविन्द ने गुरु के भोजनावशिष्ट पात्र उनको दिये । भक्त वैष्णवों के लिये प्रसाद की अपेक्षा और कोई अमूल्य पदार्थ नहीं है । जो रघुनाथ गौराङ्ग के दर्शन करने के लिये मृतप्राय हो गये थे, आज वे ही उनका प्रसाद अन्न पाने के अधिकारी हुए ।

रघुनाथ पाँच दिन गुरु का प्रसाद खा कर सोचने लगे—
 “महाप्रसाद आहार के लिये नहीं है। इससे आत्मा का परित्राण करना चाहिये। मैं क्या कर रहा हूँ ! देह की पुष्टि के लिये इस पवित्र वस्तु का अपव्यय करने से मैं निश्चय ही अधिकतर अपराधी होऊँगा। अतः मेरे लिये ऐसा करना सर्वथा अनुचित है।” इस प्रकार सोच कर कुछ दिनों उन्होंने समुद्र में स्नान किया और गुरु को प्रणाम कर वे जगन्नाथजी के दर्शन करने के लिये गये। वहाँ जगन्नाथ जी के द्वार पर समस्त दिन खड़े खड़े नामकीर्तन कर, सन्ध्या होने पर, और दूकानों पर भिक्षा माँग कर भोजन करके वे कुटी पर लौट आये। उधर जब रघुनाथ महाप्रसाद लेने न गये; तब गोविन्द ने जाकर सारा हाल महाप्रभु से कहा। समस्त वृत्तान्त सुन महाप्रभु के आह्लाद की सीमा न रही। एक मनुष्य जो अतुल सम्पत्ति का अधीश्वर हो; वह समस्त दिवस देवमन्दिर के द्वार पर खड़ा रह कर, हरिनाम का जप करे और आहार के लिये कुछ भी चिन्ता न कर भिक्षाश्न खाकर अपने को कृतार्थ माने; उससे बढ़कर अतुलनीय वैराग्य का उदाहरण और कहाँ मिल सकता है ?

कई दिनों तक मन्दिर के द्वार पर भिक्षा के लिये खड़े रहना अनुचित समझ, रघुनाथ क्षेत्रों में आहार कर के देहरक्षा करने लगे। इस प्रकार कुछ दिन काट कर और इस प्रकार के अन्न से देह की रक्षा करना अनुचित समझ; रघुनाथ दूकानदारों द्वारा छेड़े हुए अन्न से पेट भरने लगे। रघुनाथ का कोई पेसा कार्य न था, जिसे महाप्रभु न जानते हों। जिस दिन उन्होंने सुना कि रघुनाथ इस प्रकार भोजन का आयोजन कर रहे हैं, उस दिन महाप्रभु अपनी कुटी में न रह सके। वे प्रेम में भर कर दौड़े और

जाकर देखा कि, रघुनाथ गद्गद् हो उक्त अन्न खा रहे हैं। तब महाप्रभु ने रघुनाथ को सम्बोधन करके कहा:—

महाप्रभु—रघुनाथ ! तुम पेसी वस्तु खाते हो और हमें नहीं देते !

यह कह कर महाप्रभु ने रघुनाथ की पत्तल से उच्छिष्ट अन्न का एक ग्रास उठा कर अपने मुख में रख लिया। जब वे दूसरा ग्रास उठाने लगे, तब सङ्कुचित हो रघुनाथ ने कहा:—
“प्रभो ! आप यह क्या कर रहे हैं, क्या यह आहार आपके योग्य है ?”

चैतन्यदेव के तिरोभाव होने के बाद, रघुनाथ मथुरा गये और वहाँ राधाकुण्ड पर रहने लगे। वहाँ योगबल से उन्होंने देह परित्याग की। रघुनाथ के बनाये कई एक छोटे छोटे ग्रन्थ हैं ; जिनका वैष्णवसमाज में बड़ा आदर है। उनमें नीचे लिखे ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं:—

- (१) उपदेशामृत ।
- (२) मनोशिक्षा ।
- (३) श्रीचैतन्य-स्तव-कल्पवृत्त ।
- (४) विलाप-कुसुमाञ्जलि ।
- (५) श्रीप्रेमाम्बुज मकरन्दाख्य-स्तवराज ।

उद्धारण ठाकुर


 के १४०३ में सप्तग्राम में श्रीकरदत्त के औरस
 से और भद्रावती के गम से श्रीमद्दत्त उद्धार-
 शा ण ठाकुर का जन्म हुआ था। श्रीकरदत्त एक
 प्रसिद्ध व्यापारी थे व्यापार द्वारा उन्होंने
 बहुत सा धन कमाया था। उनके मरने के बाद उद्धारण ने घर
 का और दूकान का काम काज सम्हाला। इन्होंने हुसेनसार के
 पास अपने नाम से ज़मींदारी मोल ली और अपने नाम के ऊपर
 उसका नाम उद्धारणपुर रखा। यह उद्धारणपुर अब तक विद्य-
 मान है।

उद्धारणदत्त परम भक्त थे। जिस समय नित्यानन्द धर्म-
 प्रचारार्थ सप्तग्राम में आये, उस समय कुछ दिन तक वे उद्धारण
 के घर में रहे थे। नित्यानन्द का धर्मोपदेश सुन उद्धारण के
 ज्ञानचलु खुले और उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ। इसके
 बाद वे अपना सारा वैभव छोड़ कर, नीलाचल को गये।
 वहाँ से वे वृन्दावन में जा कर रहने लगे। वहाँ ५३ वर्ष की
 अवस्था में १४६० शाके के माघ मास की कृष्णा त्रयोदशी को
 वे चल बसे। वंशीबट के पास इनका समाधिमन्दिर अभी तक
 विद्यमान है।

लोग कहा करते हैं कि, एक दिन एक व्यापारी सरस्वती
 नदी की ओर जाता हुआ, सप्तग्राम में हो कर निकला।
 रास्ते में उसे एक परम सुन्दरी कन्या मिली, जिसने कहा

कि, अमुक वस्तु मुझे दो और उसका मूल्य लेने के लिये उसने उद्धारण ठाकुर का घर बतला दिया । इस पर उस व्यापारी ने कहा कि, उद्धारण यदि मूल्य न दें तो क्या होगा ? तब उस बालिका ने कहा —“ यदि उनके पास मूल्य न हो तो उनसे कह देना कि, उनकी माता की पाँच मोहरें अमुक स्थान पर रखी हैं, वे उनसे मूल्य चुका दें । यदि इस पर भी वे तुम्हें मूल्य न दें तो तुम यहाँ आ कर अपनी वस्तु ले जाना ।” यह सुन वह व्यापारी चुपचाप उद्धारण ठाकुर के पास गया और बालिका ने जो बातें कही थीं, सो सब उनके सामने उसने दुहरा दीं ।

व्यापारी की बातें सुन ठाकुर ने कहा—“ मेरे तो कोई लड़की है नहीं और दूसरे की लड़की मेरे नाम से कोई वस्तु ले नहीं सकती । जो हो, मैं उसकी बतलायी मोहरें देखने जाता हूँ । लौट कर जो होगा सो कहूँगा ।” लड़की के कथनानुसार ठाकुर को वहाँ पाँच मुवर्णमुद्रा मिली । तब तो ठाकुर को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे मन ही मन सोचने लगे कि, यह लड़की कौन है; उसको देखना चाहिये । अनन्तर उन्होंने उस व्यापारी से जाकर कहा— “ यदि तुम मुझे वह लड़की दिखा दो तो मैं ये पाँचों मोहरें तुम्हें दे दूँ ।” वह व्यापारी उन्हें उस जगह ले गया; किन्तु वह बालिका न दिखलायी पड़ी । दोनों ने उसे बहुत ढूँढ़ा, किन्तु उस प्रकार की बालिका न मिली । तब उद्धारण की समझ में आया कि, वह बालिका सामान्य बालिका न थी । वह अनाया, परमाराध्या, गिवसाध्या, महाविद्या, शक्तिस्वरूपिणी, जगज्जननी को छोड़ और कोई नहीं है । तब उद्धारण ने उस व्यापारी से कहा—“भाई ! तुम साधारण व्यक्ति नहीं हो; किन्तु तुमने माँ को देख कर भी नहीं पहचान पाया ।” व्यापारी ने

यह बात सुन कर कहा —“माता ! आओ !! दत्त महाशय के निकट मुझे क्यों मिथ्यावादी ठहराती हो ।” यह सुन त्रिलोक-तारिणी माता ने उस व्यापारी को मिथ्यावाद से छुड़ाने के लिये पुण्यतोया सरस्वती के जल से दोनों हाथ निकाल कर उस वस्तु को दिखला दिया ।

स्वामी विशुद्धानन्द







 डूरेजी सन् १८०४ ई० में दक्षिण प्रदेशान्तर्गत कल्याणी-ग्राम में स्वामी विशुद्धानन्द का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम सङ्गमलाल और माता का नाम यमुना देवी था। आर्यावर्त में बौड़ी नामक-ग्राम में सङ्गमलाल का पैतृक वास-भवन था। जब ये छोटे थे, तभी इनके पिता का देहान्त हो गया था। तब ये घर द्वार छोड़ कर, कल्याणी में पहुँचे और वहाँ सबसुखराम नामक एक ब्राह्मण के घर में रहने लगे। सबसुखराम दक्षिण के नवाब के यहाँ मोहनशाह नामक सेनानायक और मनसूबदार के पास काम किया करते थे। उनके एक बहिन थी, जिसका नाम यमुना देवी था। उसका अब तक विवाह नहीं हो पाया था। सबसुखराम ने सङ्गमलाल का चरित्र-व्याहार और कुल घर देख अपनी बहिन सङ्गमलाल को व्याह दी।

व्याह हो चुकने पर, दो वर्ष बाद सङ्गमलाल दो सन्तान के पिता हुए; किन्तु वे दोनों थोड़े ही दिनों के भीतर मर गये। स्वामी विशुद्धानन्द सङ्गमलाल के तीसरे पुत्र थे। जब इनकी अवस्था एक वर्ष की हुई, तब पिता ने होम, याग और पूजा अर्चनादि कर पुत्र का नाम वंशीधर रखा; किन्तु दुर्भाग्यवश पुत्र को मृगी का रोग उत्पन्न हुआ। माता यमुना देवी पुत्र को इस असाध्य रोग से पीड़ित देख और उसके जीवन की आशा छोड़, संदा उदास रहने लगी।

इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर, कल्याणी में एक क्षत्रियाणी सती हुई। भारतवासियों के विशेषकर, इस प्रान्त के हिन्दुओं का यह विश्वास है कि, सती अन्तिम बार जो आशीर्वाद या शाप देती हैं, वह कभी अन्यथा नहीं होता। अतः सहस्रों स्त्रियाँ अपने लड़के वालों को गोद में ले सती से आशीर्वाद पाने के लिये उसके पास गयीं। यमुना देवी भी वंशीधर को लिये हुए वहाँ पहुँची। सती ने वंशीधर को देख कर, यमुना देवी से कहा :—

सती—भगिनी ! तुम बड़ी भाग्यवती हो। तुम्हारा यह बेटा योगी हागा। अकालमृत्यु तो इसे स्पर्श भी न कर पावेगी।

कुछ दिन तक तो वंशीधर को मृगी रोग न हुआ : किन्तु पीछे से वे फिर उस रोग से उत्पीड़ित हुए।

वंशीधर जब चार वर्ष के थे, तब एक दिन उन्होंने अपनी माता से कहा :—

वंशीधर—मेरी पुस्तक कहाँ है ?

जब कई बार बालक ने पुस्तक माँगी तब माता ने उठा कर एक पुस्तक उसके हाथ में थमा दी। किन्तु बालक वंशीधर ने कहा—“यह पुस्तक मेरी नहीं है।” यह कह कर, उस बालक ने पुस्तक को फेंक दिया और वह रोने लगा। सबसुखराम ने बालक को बहला कर, शान्त किया और पूँछा—“वंशी! तुम पुस्तक लेकर क्या करोगे ?” मामा के प्रश्न के उत्तर में वंशी ने कहा—“पुस्तक मिलने से हमारा रोग ठूट जायगा। वह पुस्तक पर्णकुटी में है।” बालक के मुख से ऐसी अद्भुत बात सुन सविस्मय उन्होंने

पूँछा—“किसकी पर्णकुटी में ?” इस प्रश्न का उत्तर वंशी कुछ भी न दे सका ।

कल्याणी से १०।११ कोस उत्तर की आर उरात नामक एक ग्राम में प्रतिवर्ष चैत्र मास में कोणी नामक नदी के सङ्गम में स्नान करने के लिये अनेक यात्री जाया करते थे। उस सङ्गम के तट पर एक योगी पर्णकुटी में रहा करते थे । सबसुखराम भी एकवार कुटुम्ब सहित वहाँ स्नान करने गये । वे जब उस पर्णकुटी के समीप पहुँचे; तब बालक ने पर्णकुटी दिखला कर कहा—“ हमारी पुस्तक इसी पर्णकुटी में है ।” बालक की बात सुन सब को आश्चर्य हुआ और बालक के मामा ने पर्णकुटी में जाकर योगी से कहा—“प्रभो ! यह बालक क्या कहना है, सुनिये ।” बालक ने त्तणमात्र योगी के मुख की आर देख कर कहा—“हमारी पुस्तक इसी कुटी में है ।” योगी ने विस्मित होकर सबसुखराम से पोथी ढँढ़ने के लिये कहा । सबसुखराम ने बहुत ढँढ़ कर, छपर के ठाठ से एक अति जीर्णहाथ की लिखी पोथी ढँढ़ कर निकाली वंशी उस पोथी को पाकर बहुत प्रसन्न हुआ ।

उस कुटी में रहने वाले योगी ने इस अद्भुत घटना को देख कर कहा—“महाशय ! यही हमारे गुरु हैं । जब हमारे गुरु बीमार हो कर, जय्याशायी हुए, तब उन्होंने व्याधि की यंत्रणा से मुक्त होने के लिए मुझे इस पुस्तक को ढँढ़ने के लिये कहा था । उनको विश्वास था कि, इस पुस्तक के मिलने पर उनका रोग छूट जायगा । किन्तु उस समय बहुत ढँढ़ने पर भी; जब यह पुस्तक मुझे न मिली, तब उन्होंने उसीस लेकर शरीर त्यागा । इस समय यह घटना देख और पूर्वजन्म की स्मृति देख कर, मुझे इस बालक के पूर्व-जन्म में मेरे गुरु होने में कुछ भी सन्देह नहीं है । कुछ दिनों बाद यह बालक योगी होगा इसमें भी सन्देह

नहीं।” आश्चर्य की बात तो यह है कि, उस पुस्तक के मिलते ही बालक का रोग छूट गया।

स्वामी जी जब पाँच वर्ष के हुए; तब वे भट्ट जी नामक गुरु के घर जाकर पढ़ने लगे। उन्हें फ़ारसी सिखाने के लिये एक मौलवी भी रखे गये। एक बार जो बात स्वामी जी सुन लेते, उसे वे कभी नहीं भूलते थे। इनकी स्मृतिशक्ति देख कर इनके गुरु ने इनका नाम श्रुतिधर रख द्वा़ा था। स्वामी जी जिस समय सात वर्ष के हुए, उस समय इनके पिता का देहान्त हुआ। पिता के देहान्त के कुछ ही दिनों बाद स्वामी जी की माता भी चल बसी। तेरह वर्ष की अवस्था में इन्होंने फ़ारसी और मरहटी में अच्छा अभ्यास कर लिया और वे शास्त्रालोचना में प्रवृत्त हुए। १६ वर्ष की अवस्था में स्वामी जी ने घोड़े पर चढ़ना एवं अस्त्र चलाना सीखा।

इसी समय नवाब के किसी मित्र ने एक बड़ा सुन्दर अरबी घोड़ा उनको भेंट किया। कहते हैं उसका मूल्य पाँच हजार रुपये से अधिक था। नवाब ने चाहा कि, उस पर सवार हो कर अपने मन की उमङ्ग निकालें। परन्तु अश्व की चपलता और उद्दण्डता देख उन्हें भय हुआ कि कहीं यह बदमाश पटक न दे। इसलिये वह “चाबुक-सवार” को सौंपा गया और उससे कहा गया कि, घोड़े को साधा करके लाओ। इनाम का भूखा बेचारा चाबुक-सवार ज्योंही घोड़े पर सवार हुआ, त्योंही घोड़ा पवन वेग से छूटा और अपने सवार को एक गढ़े में ले जा कर पटक दिया! कुशल यही हुई कि, उसके प्राण बच गये। फिर स्वामी जी की सहायता से घोड़ा पकड़ा गया। जब चाबुक-सवार घोड़े पर सवार हुआ था; तब कौतुकप्रिय स्वामी जी भी निज घोड़े पर सवार हो कर, उसके पीछे हो

लिये थे। जब चाबुक-सवार उसे बस में न कर सका, तब स्वामीजी ने स्वयं उसे ठीक करने के लिये उससे अनुमति माँगी। चाबुक-सवार झुँझलाया हुआ तो था ही, उसने भट “हाँ” कर दी। अश्वविद्या में निपुण स्वामी जी ने उसे इतने चक्र दिये कि घोड़ा पसीना पसीना हाँ गया। घोड़े की सारी चपलता जाती रही। तब उसे उन्होंने चाबुक-सवार को सौंप कर धन्यवाद पाया। घोड़ा अस्तबल में मला दला गया, घास दाना भी उसने खाया; किन्तु रात में अकस्मात् बीमार होकर मर गया।

घोड़े के मरने का नवाब को बड़ा दुःख हुआ और बहुत कुछ सफाई देने पर भी उसने स्वामीजी के कारागृह में बंद कर दिया। कुछ दिन लों कारागृह में रहने से स्वामी जी के मन में विलक्षण परिवर्तन उत्पन्न हुआ। उन्होंने संसार को असार समझ बैराग्य ग्रहण करने का सङ्कल्प किया। कारागार से कूटने पर कुछ दिनों तक वे मामा के पास आनन्दपूर्वक रहे। एक दिन उन्होंने मामा के नाम एक पत्र लिखा। उसमें संसार की अनित्यता समझायी और उन्हें निषेध किया कि हमें तुम ढूँढ़ना मत। पत्र लिख कर और कल्याणी को छोड़, वे नासिक क्षेत्र में पहुँचे। वहाँ ब्रह्मचर्य्य धारण कर, वे एक कर्मनिष्ठ ब्राह्मण से वेदाध्ययन करने लगे। उस समय स्वामी जी केवल १७ वर्ष के थे। वहाँ वे कई वर्षों तक रह कर, ओंकारनाथ पहुँचे। वहाँ से चल कर उज्जैन पहुँचे और उन्होंने शिवपञ्चाक्षर मंत्र का जप किया। कहा जाता है कि, यहाँ पर शिवपञ्चाक्षर मंत्र का जप करने से मनोरथ सिद्ध होता है। मंत्रसाधन करते समय चार पाँच दिन तक स्वामी जी निराहार रहे। अनन्तर एक आदमी उनके निग्य आकर एक मुट्ठी भुने चने देने लगा। इन्हीं चनों का खाकर स्वामी जी दिन काटने लगे।

उसी समय सिन्धिया के राज्य में घोर विप्लव उपस्थित हुआ। सन्देश में पड़ स्वामी जी पकड़े गये और कारागृह में डाल दिये गये। विचार होने पर वे निर्दोष पाये जाकर छोड़ दिये गये। वहाँ से छुटकारा पाकर स्वामी जी बिठूर गये। वहाँ कई वर्षों तक रह कर वे हरिद्वार गये। कनखल में कुछ दिनों रह कर स्वामी जी बदरिकाश्रम गये। विष्णु-प्रयाग में एक गुफा में एक योगी रहते थे। स्वामी जी ने कई वर्षों तक उस योगी की सेवा शुश्रूषा कर योग की क्रियाएं सीखीं। स्वामी जी की योग सीखने की इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। इसी इच्छा के वशवर्त्ती हो स्वामीजी हृषीकेश गये। वहाँ गोविन्द नामक एक योगी थे। स्वामी जी ने उनके पास रह कर १५ वर्ष कठोर परिश्रम कर योगाभ्यास किया। अनन्तर वे काशी गये। उस समय वहाँ गौड़ स्वामी नामक एक असाधारण शास्त्रज्ञानी महापुरुष दशाश्वमेध घाट पर रहते थे। स्वामी जी ने गौड़ स्वामी से संन्यास-धर्म की दीक्षा ली।

स्वामी जी को छोड़ कर गौड़ स्वामी के तीन शिष्य और थे। इन सब में विश्वरूप जी पर ही गौड़ स्वामी का बड़ा स्नेह था। एक दिन किसी विषय को लेकर विश्वरूप और विशुद्धानन्द में कुछ तर्क चिर्क होने लगा। यद्यपि इस विवाद में विश्वरूप को परास्त होना पड़ा तथापि स्वामी विशुद्धानन्द ने शान्तमूर्ति त्याग कर कुछ काल के लिये उग्रमूर्ति धारण कर ली। स्वामी जी के शरीर में अचानक यह परिवर्तन देख गौड़ स्वामी के मन में दुःख उत्पन्न हुआ। गुरु जी को दुःखी जान स्वामी जी बहुत लज्जित हुए और तब से वे विश्वरूप जी को अपना बड़ा भाई समझने लगे और गुरुतुल्य उनका सम्मान करने लगे।

सन् १८५६ ई० में गौड़ स्वामी कैलासवासी हुए। अन्तिम समय गौड़ स्वामी ने अपने शिष्यों को बुला कर अनेक प्रकार के उपदेश दिये और स्वामी विशुद्धानन्द को अपनी गद्दी पर बैठने की आज्ञा दी। गुरुदेव के शरीरान्त होने पर विशुद्धानन्द जी ने विश्वरूप जी को गुरु की गद्दी पर बिठाना चाहा; किन्तु विश्वरूप जी ने कहा—“विशुद्धानन्द ! तुम गुरुदेव के अन्तिम वचनों को स्मरण करो। यद्यपि हम अवस्था में तुमसे बड़े हैं, तथापि तुम ज्ञानज्येष्ठ हो और यदि तुम गुरुदेव के न रहने पर हमें गुरु मानते हो, तो हम आज्ञा देते हैं कि, तुम इस गद्दी को ग्रहण करो। अगत्या स्वामी जी को गद्दी ग्रहण करनी पड़ी; किन्तु वे विश्वरूप जी की गुरुतुल्य सेवा करते और उनकी आज्ञा का सदा पालन किया करते थे।

स्वामी जी ने गौड़ स्वामी का गौरव सदा अलुपण रखा। इनके समान इनके समय में ‘दर्शन’ का जानने वाला और मीमांसाकार दूसरा न था। फ्रांस, जर्मनी प्रभृति सुदूर देश वासी संस्कृतज्ञ पण्डित इनकी मीमांसा सुनने के लिये, उत्सुक होकर इनके पास आते थे।

सन् १८६८ ई० में ८२ वर्ष की अवस्था में योगासनासीन होकर स्वामी जी ने शरीर त्यागा।

दयानन्द सरस्वती

ॐ (ॐ) ॐ दयानन्द सरस्वती का जन्म सन् १८२४ ई० में हुआ था। आपका जन्मस्थान, गुजरात प्रान्त के अन्तर्गत काठियावाड़ प्रदेश के माकू नदी के तट पर मोर्ची नगर है। इनके पिता शैवमतावलम्बी थे। वे ऐसे दृढ़ शिवोपासक थे कि, जब तक शिव जी की पूजा न कर लेते, तब तक जल तक ग्रहण नहीं करते थे, उनकी आर्थिक अवस्था भी अच्छी थी और उन्होंने कई जगह शिवमन्दिर भी बनवाये थे। दयानन्द जब जन्मे तब उनके पिता ने उनका नाम मूलशङ्कर रखा।

मूलशङ्कर बड़े मेधावी थे। पाँच वर्ष की अवस्था ही में उन्होंने वर्णाशिक्षा प्राप्त कर संस्कृत का ज्ञान सम्पादन कर लिया था। आठवें वर्ष उनका उपनयन संस्कार हुआ, तब से वे विशेषरूप से शास्त्रों को पढ़ने लगे और सन्यासवन्धनादि कर्म करने लगे। चौदह वर्ष की अवस्था में इन्होंने बहुत सा वेद का भाग पढ़ लिया; किन्तु एक घटना ऐसी हुई जिससे इनकी ज्ञान-पिपासा बहुत बढ़ गयी।

मूलशङ्कर के पिता उनको शिव-मंत्र से दीक्षित करने की प्रतीक्षा कर रहे थे। इतने में शिवरात्रि आयी। पिता ने पुत्र से कहा—“मूलशङ्कर ! आज हम तुम्हें शिवमंत्र की दीक्षा देंगे। तुम शिव-मन्दिर में जाकर आज रात भर जागरण करना।” पिता की आज्ञा से मूलशङ्कर ने दिन भर निराहार उपवास किया और रात होने पर पिता के साथ वह शिवालय में गया।

रात के द्वितीय प्रहर की पूजा समाप्त कर पुरोहित जी मन्दिर के बाहर गये। मूलशङ्कर ने देखा कि, कई एक चूहे निकल कर कैलासपति महादेव पर चढ़ाया हुआ नैवेद्य खा रहे हैं और उनके ऊपर अपलीला क्रम से विचरण कर रहे हैं। चूहों का ऐसा आचरण देख, मूलशङ्कर ने पिता से पूँछा :—

मूलशङ्कर—पितृदेव ! क्या यही देवादिदेव महादेव हैं ?

पुत्र का इस प्रकार का विस्मयसूचक प्रश्न सुन, पिता ने पूँछा :—

पिता—मूलशङ्कर ! तुम यह प्रश्न क्यों करते हो ?

मूलशङ्कर—यदि यह मूर्ति सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की होती, तो ये सारे चूहे उनके ऊपर इस प्रकार कभी विचरण नहीं करते।

इस प्रश्न के उत्तर में पिता ने अपनी बुद्धि के अनुसार बहुत कुछ पुत्र को समझाया, किन्तु मूलशङ्कर को पिता के उत्तर से सन्तोष न हुआ। इतना ही नहीं किन्तु मूलशङ्कर व्रत को भङ्ग करके अपने घर चला गया।

इस घटना के कुछ दिनों बाद मूलशङ्कर की एक बहिन बीमार हुई और वह मर गयी। बहिन के मरते ही मूलशङ्कर के मन में ज्ञान उदय हुआ। उसने समझ लिया कि, इस संसार में जीवमात्र को मृत्यु के मुख में गिरना पड़ता है ; अतः अभी से उससे निवृत्ति पाने का उपाय अवलम्बन करना चाहिये। इस प्रकार विचार करते ही मूलशङ्कर के हृदय में वैराग्य-वृद्धि प्रज्वलित हो उठी। पुत्र के हृदय में वैराग्य का उदय देख पिता ने उसे, विवाह-शृङ्खला में बांधना चाहा ; किन्तु पिता की यह चेष्टा विफल हुई। मूलशङ्कर सन् १८४६ ई० में एक दिन

सन्ध्या समय इक्कीस वर्ष की अवस्था में माता पिता, बन्धु बान्धवों की ममता छोड़ घर से निकला ।

मूलशङ्कर घर छोड़ कर इधर उधर घूमता फिरता सिद्धपुर पहुँचा । वहाँ लालाभक्त नामक एक प्रसिद्ध योगी रहता था । मूलशङ्कर ने उसका नाम सुना और वह उसके पास गया । किन्तु वह सचमुच साधु है कि, नहीं इसकी परीक्षा लेने के लिये, मूलशङ्कर कुछ दिनों तक उसके पास रहा । मूलशङ्कर ने जब अनेक विधि उसकी परीक्षा लेकर उसे सचमुच योगी पाया ; तब वह उस योगी का शिष्य हुआ । शिष्य होने पर मूलशङ्कर का नाम दयानन्द शुद्ध चैतन्य* पड़ा । मूलशङ्कर का नाम बदलते ही उसका वेशभूषा भी बदल गया । उसने गृहस्थों जैसे वस्त्र परिन्याग कर गेरुआ वस्त्र धारण किये ।

सिद्धपुर में प्रतिवर्ष पूस मास में एक मेला लगता है । उस मेले में अनेक साधु संन्यासी वहाँ जाते हैं । धर्म-पिपासु दयानन्द अपनी धर्मतृष्णा मिटाने के लिये सिद्धपुर, समागत साधु संन्यासियों को जाकर देखने लगे कि, उनमें महात्मा महापुरुष कौन कौन हैं ? एक दिन दयानन्द सिद्धपुर के नीलकण्ठ देव के मन्दिर में बैठे हुए थे कि, इतने में उनके पिता कई एक लठैत सिपाहियों को लिये हुए वहाँ पहुँचे । वे अपने निरुद्दिष्ट पुत्र को देख क्रोध में भर लाल हो गये और अनेक

शङ्कराचार्य के प्रतिष्ठित किये हुए चारों मठों में चार प्रकार के ब्रह्म-चारी रहते हैं । मठानुसार ब्रह्मचारियों की भिन्न भिन्न उपाधियाँ भी हैं । यथा उत्तरमठ में “ आनन्द ” दक्षिणमठ में “ चैतन्य ; पूर्वमठ में “ प्रकाश ” और पश्चिममठ में “स्वरूप” उपाधि के ब्रह्मचारी रहते हैं । इससे जान पड़ता है कि, दयानन्द दक्षिण मठान्तर्गत ब्रह्मचारी हुए ।

प्रकार से दयानन्द का तिरस्कार कर उनसे घर लौटने के लिये कहा। दयानन्द इस अवस्था में क्या कर सकते थे ? इच्छा न रहते भी पिता के कहने से घर लौट जाने के लिये वे तैयार हुए। कहीं पुत्र फिर भाग न जाय, इस डर से पिता ने पुत्र के ऊपर कड़ा पहरा नियत कर दिया। दयानन्द संसार-सुख को जलाञ्जलि देकर योगिगण-वाञ्छित शाश्वत सुख का अन्वेषण करते फिरते थे। सुतरां पिता के हाथ से छुटकारा पाने के लिये वे सदा सुयोग ढूँढ़ा करते थे। दैववश एक दिन सब पहरेदार सो गये। यह सुयोग देख दयानन्द फिर भाग खड़े हुए। किन्तु पहरेवे जाग कर फिर न पकड़ लें, इस डर से वे पास ही एक सघन वृक्ष पर चढ़ कर, उस पर छिप गये। दो तीन दिन तक दयानन्द निराहार रहे। दिन भर तो वे वृक्ष पर चढ़ कर छिपे रहते और रात होते ही चल पड़ते थे। इस प्रकार चलते चलते जब वे निरापद स्थान में पहुँच गये; तब वे रात दिन चलने लगे। अहमदाबाद होते हुए बड़ोदा पहुँचे और वहाँ कुछ दिनों तक चैतन्य मठ में रहे। फिर वहाँ से वे चाणौद कल्याणी नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ ज्वालानन्द पुरी और शिषानन्द गिरि से योग सीखा। इतने में शृङ्गेरी मठ से पूर्णानन्द सरस्वती नामक एक संन्यासी चाणौद से थोड़ी दूर एक निर्जन स्थान में आकर रहने लगा। दयानन्द संन्यास ग्रहण करने के अभिप्राय से पूर्णानन्द के पास गये और संन्यासी हो गये। संन्यास ग्रहण करने पर उनका नाम दयानन्द सरस्वती पड़ा। उस समय दयानन्द की अवस्था पच्चीस वर्ष से अधिक न थी।

सन् १८५४ ई० में हरिद्वार में कुम्भ का मेला हुआ। मेले में वहाँ देशदेशान्तर के साधु संन्यासी एकत्र हुआ करते हैं।
आ० म०—४

बहुदर्शी और ज्ञानी साधु पुरुष का दर्शन करने के अर्थ दयानन्द हरिद्वार गये। वहाँ से वे सन् १८४४ ई० में चल दिये और कानपुर, काशी, प्रयाग आदि स्थानों में घूमते फिरते सन् १८४८ ई० में वे मथुरा पहुँचे।

दयानन्द जिस समय मथुरा पहुँचे; उस समय उनकी अवस्था ३४ वर्ष की थी। मथुरा में इनको एक बड़े योगी पुरुष मिले। उनका नाम विरजानन्द था और उनकी अवस्था ८१ वर्ष से अधिक थी। जब यह पाँच ही वर्ष के थे, तभी साङ्ख्यिक चेचक की बीमारी से इनकी दोनों आँखों की ज्योति नष्ट हो गयी थी; किन्तु इनकी स्मृतिशक्ति असाधारण थी। मुख से सुन कर इन्होंने वेदादि सकल शास्त्र कण्ठस्थ कर रखे थे। इन्हीं महापण्डित और साधु के दयानन्द शिष्य हुए। सन् १८६४ ई० तक दयानन्द विरजानन्द के पास अध्ययन और योगशिक्षा प्राप्त कर, आगरे गये।

दयानन्द मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे। जगत में मूर्तिपूजा का खण्डन करना ही इनका प्रधान कर्त्तव्य था। वेद के भाग विशेष को छोड़, दयानन्द का अन्य किसी पर विश्वास न था। जब विद्यार्थी होकर ये विरजानन्द के पास गये, तब उन्होंने कहा—“वत्स ! तुमने अभी तक जो कुछ पढ़ा है, उसमें अधिकांश मनुष्यरचित ग्रन्थ ही हैं। मनुष्यरचित ग्रन्थों का प्रभाव रहते, तुम्हारे हृदय में आर्षग्रन्थों का मर्म प्रविष्ट और प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा, अतएव तुम मनुष्यरचित ग्रन्थों को छोड़ कर हमारे पास फिर से पढ़ो।”

दयानन्द ने मूर्तिपूजा का असारत्व प्रतिपादन करने के लिये काशीस्थ पण्डित-मण्डली के साथ विचार किया। सन्

१८६६ ई० की २३ वीं नवम्बर, मङ्गलवार तीसरे पहर तीन बजे दुर्गा मन्दिर के पास एक उद्यान में विचार-सभा का अधिवेशन हुआ। इस विचार में दयानन्द ही को पराजित होना पड़ा। सन् १८७२ ई० की ३० वीं दिसंबर को दयानन्द कलकत्ते पहुँचे। इसके बाद भारतवर्ष के नाना स्थानों में घूमते फिरते, सन् १८८३ ई० की २८ वीं अक्टूबर को दयानन्द ने अजमेर में देह त्यागी। मरते समय दयानन्द की अवस्था लगभग ४६ वर्ष की थी।

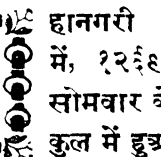
बहुत स्थानों में पर्यटन करने से तथा अनेक साधु संन्यासियों के साथ रहने से दयानन्द योग समाधि सम्बन्धी अनेक योग के विषय जान गये थे और इन्हीं समस्त विषयों को कार्य में परिणत करने में उनका अधिक समय व्यतीत हुआ करता था। उन्होंने योग सम्बन्धी नाड़ीचक्र नामक कोई ग्रन्थ पढ़ा था। एक दिन वे मुरादाबाद में रामगङ्गा के तट पर परिभ्रमण कर रहे थे। उस समय उन्होंने एक मुर्दा बहता हुआ देखा। उसे देख, मनुष्य के शरीर में सचमुच नाड़ीचक्र है कि नहीं यह जानने के लिये उनके मन में आग्रह उत्पन्न हुआ। अपना संशय दूर करने के लिये वे झट जल में कूद पड़े और मुर्दे को खींच कर, किनारे पर ले आये। फिर उस मुर्दे को छुरी से चीरा; किन्तु उसमें पुस्तक के लेखानुसार नाड़ीचक्र न पाकर, उन्होंने पुस्तक को चीरफाड़ कर, नदी में फेंक दिया।

इन्होंने “सत्यार्थ-प्रकाश” नामक एक ग्रन्थ हिन्दी में लिखा है। उसमें देशी विदेशी सभी धर्म एवं सम्प्रदायों की समालोचना करते हुए, उनके दोष ही दोष दिखलाने में पूर्ण पाण्डित्य प्रदर्शित

किया है । बाबू श्यामसुन्दर दास की संग्रह की हुई और “कोविद-रत्नमाला” में प्रकाशित दयानन्द की जीवनी से विदित होता है कि दयानन्द हिन्दी भाषा के बड़े प्रेमी थे ।

दयानन्द की बनाई संस्कृत में एक पुस्तक है । उसका नाम “आर्य्योद्देश्य-रत्नमाला ” है ।

विवेकानन्द


म

 हानगरी कलकत्ता में सिमूलियानामक स्थान में, १२६६ बङ्गला वर्ष की २६ वीं पौष तिथि सोमवार के दिन विवेकानन्द का जन्म कायस्थ कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम विश्वनाथ-दत्त था। वे कलकत्ता हाईकोर्ट के एटार्नी थे। विश्वनाथ के तीन पुत्र थे। सब से बड़े पुत्र का नाम नरेन्द्र, मध्यम का महेन्द्र और छोटे का भूपेन्द्र था। विश्वनाथ दत्त के ज्येष्ठ पुत्र नरेन्द्र ही का नाम विवेकानन्द था।

नरेन्द्र शिशुकाल से ले कर यौवनारम्भ पर्यन्त अतिशय आमोद-प्रिय थे। वे ताश खेलते, रसिकता करते, तमाखू पीते और गाने बजाने में बड़े निपुण थे। किन्तु आमोद प्रमोद में भी वे कभी कोई अप्रिय और कदर्य अभिनय नहीं करते थे। बाल्यावस्था ही से उनकी स्मरणशक्ति, बुद्धि और हृदय की सरलता का लोगों को परिचय मिलने लगा था। कुटिलता, कपट, स्वार्थपरता, और हिंसा किसे कहते हैं—यह वे नहीं जानते थे। बन्धु बान्धव, अड़ासी पड़ासी, परिचित अपरिचित कोई भी क्यों न हो, नरेन्द्र को मालूम भर पड़ जाय, तो नरेन्द्र उसके अभाव को दूर करने के लिये यथासाध्य यत्न किये बिना नहीं रहते थे।

यद्यपि नरेन्द्र का समय आमोद प्रमोद और परोपकार में व्यतीत होता था, तथापि वे निजकार्य सम्पादन करना नहीं भूलते थे। वे बीस वर्ष की अवस्था में जनरल एसेम्बली

नामक विद्यालय से एफ० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर बी० ए० डिग्री को प्राप्त करने के लिये पढ़ते रहे। इसी समय से उनकी प्रवृत्ति धर्म की ओर विशेष रूप से परिलक्षित होने लगी। धर्म किसे कहते हैं एवं कौन सा धर्म सत्य है, ये जानने के लिये वे घिकल हुए। हेस्टी साहब नामक एक मिशनरी थे। वे जनरल एसेम्बली विद्यालय में अध्यापक थे। नरेन्द्र अधिक समय तक उनके साथ धर्मसम्बन्धी वार्त्तालाप किया करते थे : किन्तु इससे उनकी तृप्ति नहीं होती थी। चारों ओर बनावटी धर्म का ढोंग देख वे घोर संशयवादी होगये। मन का सन्देह दूर करने के लिये वे ब्रह्मसमाज में सम्मिलित होगये। हिन्दू-धर्म, ब्राह्म धर्म, ईसाई धर्म, मुसलमान धर्म, और बौद्ध धर्म की पर्यालोचना करते हुए कौन धर्म यथार्थ है—यह न जान कर, जिस समय वे घूमते फिरते थे, उस समय भाग्यवश उनका रामकृष्ण परमहंस से समागम हुआ। नरेन्द्र का एक बन्धु उन्हें परमहंस जी के पास ले गया था और उनका परिचय देते हुए परमहंस जी से कहा था—“ यह ढ़ोकरा नास्तिक होना चाहता है। ”

परमहंस जी को काली एवं देहतत्त्व सम्बन्धी गीतों को सुनना बड़ा अच्छा मालूम पड़ता था। कुछ देर तक बातचीत हो चुकने पर नरेन्द्र के साथी ने गुरुदेव की अनुमति लेकर नरेन्द्र से एक गीत गाने के लिये कहा। नरेन्द्र ने तब दो गीत गा कर सुनाये।

नरेन्द्र के सुकण्ठ-निःसृत गीतों को सुन कर, परमहंस जी मोहित हो गये और नरेन्द्र से कहा फिर आना ; परमहंस जी के आज्ञानुसार नरेन्द्र उनके पास आने जाने लगे और उनके मन में धर्मसम्बन्धी जो जो सन्देह उत्पन्न होगये थे वे धीरे धीरे

उनके विषय में प्रश्न कर उन्हें दूर करने लगे। परमहंस जी नरेन्द्र के प्रश्नों के जो उत्तर देते थे, नरेन्द्र उन उत्तरों को कूट तर्क द्वारा खगड़न करने की चेष्टा किया करते थे। नरेन्द्र ने पहले परमहंस जी की अनेक बातें नहीं मानीं। नरेन्द्र का ऐसा आचरण देख परमहंस जी ने उनसे कहा—“नारायण* ! यदि तुम मेरी बात नहीं मानते तो यहाँ क्यों आते हो ? ” इसके उत्तर में नारायण ने कहा—“मैं आपको देखने आता हूँ आपकी बातें सुनने या मानने के लिये नहीं आता । ”

नरेन्द्र परमहंस जी के पास जाते आते रहे। फल यह हुआ कि, उनके मन में जो सन्देह थे, वे धीरे धीरे दूर होने लगे और उनके मनमें ज्ञान उदय होने लगा। इतने में नरेन्द्र ने बी० ए० परीक्षा पास की और आईन पढ़ना आरम्भ किया। बङ्गला सन् १२६१ में नरेन्द्र के पिता का देहान्त हुआ। पितृ-वियोग के कुछ दिनों बाद नरेन्द्र का मन अकस्मात् बदलसा गया। वे परमहंस जी के पास जाकर बोले—“ मुझे योग सिखलाइये ; मैं समाधि लगाऊँगा, आप मुझे शिक्षा दीजिये । ” यह सुन रामकृष्ण ने कहा—“ इसके लिये चिन्ता क्यों करते हो ? सांख्य-पातञ्जल, वेद, उपनिषद्, पुराण प्रभृति धर्मग्रन्थ पढ़ो। तुम अपने आप सब जान जाओगे । ” तुम जैसे चतुर बालक द्वारा धर्म का बड़ा उपकार होगा। नरेन्द्र परमहंस जी के उपदेशानुसार उक्त समस्त ग्रन्थ पढ़ने लगे और निर्जन स्थान में बैठ योग सीखने लगे।

नरेन्द्र की माता ने नरेन्द्र के चित्त-चाञ्चल्य एवं उदास भाव देख, उनको विवाह बन्धन में डालना चाहा ; किन्तु

*परमहंस जी नरेन्द्र को नारायण कह कर सम्बोधन किया करते थे।

नरेन्द्र ने विवाह करना अस्वीकृत किया। लोग कहते हैं नरेन्द्र के विवाह की चर्चा सुन परमहंस जी ने लोलजिह्वा कराल वदना काली के चरण पकड़ कर और रों कर प्रार्थना की थी—“ मा ! ऐसा करना जिससे नरेन्द्र न डूबे ।

परमहंस देव की कृपा से नरेन्द्र महाज्ञानी एवं संन्यासी हो गये। जो नरेन्द्र जगत भर के धर्मों की सत्यासत्य परीक्षा के लिये पादङ्गियों मौलवियों के साथ विवाद किया करते थे, ब्रह्म-समाजी एवं लामाओं से तर्क वितर्क किया करते थे, किन्तु कोई धर्मयाजक उन्हें धर्म की ज्योति नहीं दिखला सका था, वे ही नरेन्द्र हिन्दूधर्म की देदीप्यमान ज्योति को देख और संसार की समस्त सुखाभिलाषा को झंड़ कर संन्यासी हो गये। बङ्गला सन् १२६२ में परमहंस जी के देहत्याग करने पर नरेन्द्र ने गुरु के उपदेशानुसार विवेकानन्द नाम ग्रहण किया। तब से वे इसी नाम से विख्यात हो गये।

परमहंस जी के देहत्याग करने पर विवेकानन्द हिमालय प्रदेशस्थ मायावती (हरिद्वार) में जाकर योग साधने लगे। लगभग दो वर्ष तक वहाँ योग का साधन कर, वे साधु-सङ्गम की इच्छा से तिब्बत एवं हिमालय के अनेक प्रदेशों में भ्रमण करने के लिये चल दिये। बङ्गला सन् १२६८ ई० में वे आबू के पहाड़ पर जा पहुँचे। वहाँ उनके दर्शन करने के लिये खेतड़ी नरेश के दीवान मुंशी जगमोहन लाल जी गये। उनकी विद्या बुद्धि एवं पाण्डित्य का परिचय पाकर मुंशी जी ने सारा हाल जाकर खेतड़ी-नरेश से कहा। खेतड़ी नरेश ने उनसे मिलना चाहा। जब उनको यह बात मालूम हुई, तब महाराज की सम्मानरक्षा के लिये, वे स्वयं

खेतड़ी-नरेश से मिलने गये। महाराज ने भी उनका यथाविधि सम्मान किया।

इनके पाण्डित्य की परीक्षा लेने के लिये खेतड़ी नरेश ने उनसे पूँछा:—

खेतड़ी नरेश—Swamiji ! what is life ? अर्थात् स्वामी जी जीवन किसे कहते हैं ?

विवेकानन्द—Life is the tendency of unfolding and development of a being under circumstances tending to press it down. अर्थात् जीव निज स्वरूप को प्रकाश करने की चेष्टा करता है और कई एक शक्तियाँ उसे दबाने की चेष्टा करती हैं। इन्हीं प्रतिद्वन्द्वी शक्ति-समूह को परास्त कर, निजशक्ति प्रकाश की अधिष्ठित चेष्टा का नाम जीवन है।

खेतड़ी नरेश ने विवेकानन्द से एक एक कर के अनेक प्रश्न पूँछे। विवेकानन्द ने उन सब के सरल भाव से उत्तर दिये। स्वामी जी के उत्तरों से खेतड़ी-नरेश उनके प्रत्युत्पन्नमतिव्य (हाज़िर-जवाबी) एवं विज्ञता का परिचय पा कर, बहुत प्रसन्न हुए और लगभग दो मास तक खेतड़ी में ठिका कर उनकी सेवा शुश्रूषा की।

खेतड़ी-नरेश के कोई सन्तान न थी। विवेकानन्द के ऊपर उनका प्रगाढ़ प्रेम और भक्ति उत्पन्न हो गयी थी। उनको विश्वास हो गया था कि विवेकानन्द के आशीर्वाद से निश्चय उनके सन्तान उत्पन्न होगी। अतः उन्होंने अपनी यह मनो-वेदना उनपर प्रकट करनी चाही। जिस समय विवेकानन्द

जी खेतड़ी से चलने लगे, उस समय खेतड़ी-नरेश ने उनसे कहा—“स्वामी जी ! आशीर्वाद दीजिये जिससे मुझे पुत्र-मुख-दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हो ।” स्वामी जी ने आशीर्वाद दिया । इस घटना के दो वर्ष बाद बङ्गला सन् १३०० में खेतड़ी-नरेश एक बालक के पिता हुए ।

विवेकानन्द के आशीर्वाद से पुत्र हुआ था, अतः स्वामी जी स्वयं उपस्थित हो कर, पुत्र की जन्मोत्सव-क्रिया सम्पन्न करें; यह खेतड़ी-नरेश की इच्छा थी । अतः विवेकानन्द जी से मिलने के लिये मुंशी जगमोहन लाल जी मदरास गये । मुंशी जी को यह तो मालूम था कि, स्वामी जी मदरास में हैं पर कहाँ हैं ; यह बात उन्हें नहीं मालूम थी । अतः मदरास में पहुँच कर, बहुत ढूँढ़ने पर उनको विदित हुआ कि, विवेकानन्द जी वहाँ मन्मथनाथ भट्टाचार्य Assistant Accountant-General की कोठी में ठहरे हुए हैं । जगमोहन लाल जी ने स्वामी जी से जा कर खेतड़ी-नरेश की इच्छा प्रकट की । उन्हीं दिनों अमेरिका अन्तर्गत चिकागो नगर की प्रदर्शनी में एक धर्म-महासभा होने वाली थी । इस धर्म-महासभा में हिन्दूधर्म को छोड़ पृथिवी भर के सब धर्मों के प्रतिनिधियों को निमंत्रण भेजा गया था । धर्मसभा का उद्देश यह जान पड़ता था कि, सब धर्मों के सहित ईसाई धर्म की तुलना कर, ईसाई धर्म की प्रधानता प्रतिष्ठित की जाय । उस धर्म-महासभा के सभापति रेवरेण्ड बैरो साहब बनाये गये थे । जान पड़ता है बैरो साहब ने विचारा होगा कि, हिन्दू लोग मूर्तिपूजक, असभ्य, मूर्ख एवं नाना प्रकार के कुसंस्कारों से परिपूर्ण हैं । अतः उनके प्रतिनिधियों को बुलाने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु कतिपय भारत सन्तानों को हिन्दूधर्म का यह अपमान सह्य न हुआ

और उन्होंने मिल कर विवेकानन्द को उस महासभा में भेजने का विचार कर, उनकी यात्रा का प्रबन्ध करना आरम्भ किया ।

अतः विवेकानन्द ने मुंशी जगमोहन लाल जी से कहा—
“ मैं अमेरिका जाने के प्रबन्ध में व्यस्त हूँ, अतः इस समय महाराज के अनुरोध की रत्ता क्यों कर, कर सकता हूँ ? ” यह सुन मुंशी जी ने कहा—“ महाराज आपकी यात्रा का सारा प्रबन्ध कर देंगे, आप निश्चिन्त रहिये । ” तब अगत्या उन्होंने खेतड़ी जाना स्वीकार किया । मदरास से चल कर, वे खेतड़ी पहुँचे । खेतड़ी-नरेश ने उन्हें अभ्युत्थान दिया और बड़े सम्मान के साथ उन्हें उच्च आसन पर बिठाया । फिर अनेक वार्त्तालाप करते हुए, जब महाराज को उनकी अमेरिका-यात्रा का हाल विदित हुआ ; तब खेतड़ी-नरेश ने प्रसन्न हो कर विवेकानन्द जी को धन्यवाद दिया ।

स्वामी जी खेतड़ी में कई एक दिन रह कर, अमेरिका जाने का उद्योग करने लगे । खेतड़ी-नरेश स्वयं उनके साथ जयपुर तक गये और बंबई तक के लिये एक फर्स्टक्लास की गाड़ी रिज़र्व करा दी । उसमें उनको बिठाया और बंबई पहुँचाने के लिये उनके साथ मुंशी जगमोहन लाल जी को कर दिया और उनसे कह दिया कि, अमेरिका-यात्रा का सारा प्रबन्ध जा कर, कर दो ।

जिस समय गाड़ी में बैठ कर, विवेकानन्द के साथ उनका रेलकर्मचारी एक भक्त एवं मुंशी जगमोहन लाल जी बातचीत कर रहे थे; उस समय एक ईसाई टिकट क्लर्क आया और उसने गाड़ी खाली करने को कहा । उन भले आदमियों ने

कारण जाने बिना गाड़ी खाली करना उचित न समझा । साहब के हुक्म को जब तामील न हुई : तब साहब बहादुर नाराज़ हुए और रेल आईन की धमकी दिखला कर, गाड़ी खाली करने का अनुरोध करने लगे । उस गाड़ी में विवेकानन्द के पास जो रेल का कर्मचारी बैठा था उसने उनसे कहा—“ ऐसी कोई भी रेल की आईन नहीं जिससे वे उस गाड़ी को खाली करने के लिये बाध्य किये जा सकें । ” इस पर उन दोनों में कहा सुनी होने लगी । विवेकानन्द अपने भक्त को बारंबार भगड़ा करने से रोकते जाते थे । इतने में साहब बहादुर ने विवेकानन्द से कहा—“तुम काहे बात करता है ? ” और उन्हें धमकाया । जान पड़ता है गेरुआ वस्त्रधारी सामान्य संन्यासी समझ साहब ने उन्हें धमकाया था । रेल में अनेक साधु संन्यासी आया जाया ही करते हैं और रेल के कर्मचारियों के घूँसे मूँके खा कर भी बैचारे चुपचाप चले जाते हैं । इसीसे साहब बहादुर ने उनको भी वैसा ही एक संन्यासी समझ लिया ।

साहब को यह विदित न था कि इस बार उनका सिंह के साथ पाला पड़ा है । विवेकानन्द ने लाल लाल आँखें कर, साहब से कहा:—

विवेकानन्द—“ What do you mean by तुम ? Can you not behave properly ? You are attending 1st and 2nd. class passengers and you do not know manners ? Can't you say आप and speak like a gentleman ? ”

साहब बहादुर—“ I am sorry I don't know the language well. I only wanted this man.”

इस पर स्वामी जी और भी क्रुद्ध हो कर बोले : -

स्वामी जी—You brute, you said you didn't know the vernacular, and now you don't know English your own language even ! Can't you say " this gentleman ". You beast. Give me your name and number I am bent on reporting your behaviour to the authorities.

इस पर बड़ा भगड़ा हुआ । साहब चुपचाप खड़े रहे । तब विवेकानन्द ने फिर कहा :—

विवेकानन्द—I give the last alternative, either give me your name and number or be the worst coward before the public."

साहब बहादुर विषम समस्या देख उस गाड़ी को छोड़ कर खिसक गये ।

बंबई पहुँच कर, मुंशी जगमोहन लाल जी ने उनकी लंबी यात्रा का सारा प्रबन्ध कर दिया और उन्हें जहाज़ पर बिठा कर, बिदा किया । वे फर्स्ट क्लास केबिन में जा कर बैठ गये और जहाज़ भी धीरे धीरे चल दिया ।

यद्यपि विवेकानन्द हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि हो कर चिकारों की धर्म-महासभा में गये थे, तथापि न तो उनको निमंत्रण ही आया था और न अमेरिका में वे किसी भद्र पुरुष को जानते ही थे, जिनके यहाँ जा कर वे टिकते । अमेरिका में पहुँच कर कहाँ खायेंगे, कहाँ सोयेंगे, किस प्रकार धर्म-महासभा में प्रवेश

करेंगे—इन सब बातों का कुछ प्रबन्ध न होने पर भी, उन्होंने अमेरिका-यात्रा की।

जब उनका जहाज़ जापान होता हुआ अमेरिका के बंदर-गाह में पहुँचा, तब अन्य यात्रियों की तरह विवेकानन्द भी जहाज़ से उतर चिकागों नगर में पहुँचे। उनको आपाद मस्तक गेरुआ वस्त्र पहने देख चिकागो-वासी बड़े विस्मित हुए। वे कौन हैं, यहाँ क्यों आये हैं—यह जानने के लिये अनेक लोग उनसे अनेक प्रकार के प्रश्न करने लगे। उनमें दो चार मान्य और भद्र लोग भी थे। उनका असाधारण पाण्डित्य पूर्ण एवं मधुर वार्त्तालाप सुन, वे उनको अपने घर पर ठिकाने के लिये ले गये और महासभा के सभापति बैरो साहब से स्वामी जी को निमंत्रण देने के लिये अनुरोध किया। पहले तो अनेक कारण दिखला कर, बैरो साहब ने उनको निमंत्रण भेजना स्वीकार ही नहीं किया, पीछे अमेरिका के दो चार प्रसिद्ध पण्डितों के विशेष अनुरोध करने पर, बैरो साहब को विवश हो उनको निमंत्रण देना पड़ा।

हाते हाते महासभा के अधिवेशन का दिन उपस्थित हुआ। अमेरिका और इङ्ग्लैण्ड के प्रसिद्ध पण्डित ख्यातनामा धार्मिक धर्मयाजकों ने अपने अपने धर्म के सिद्धान्त एवं उसकी महिमा का उस महासभा में प्रचार किया। बङ्गाल देश से ब्राह्म समाज के सुप्रसिद्ध प्रचारक स्वर्गीय प्रतापचन्द्र मजूमदार महाशय आमंत्रित हो कर गये थे—उन्होंने भी ब्राह्म धर्म की उत्कृष्टता दिखलायी।

ब्राह्म धर्म की वक्तृता समाप्त होने पर, विवेकानन्द खड़े हुए। एक अपरिचित अज्ञातनामा युवक संन्यासी को हिन्दू

धर्म सम्बन्धी वक्तृता करने को खड़े होते देख, उस महासमिति के विजातीय युवक धर्मप्रचारकगण तथा विजातीय वृद्ध धर्म-याजकगण सविस्मय उनकी वक्तृता सुनने का आग्रह प्रकाश करने लगे। दूसरों की बात जाने दौ, स्वयं प्रतापचन्द्र मजूमदार महाशय भी यह दृश्य देख विस्मित हुए।

विवेकानन्द ने धीरे धीरे वक्तृता देना आरम्भ किया। इस देश के लोग ईश्वर की साकार पूजा करते हैं, इसीसे यूरुप एवं अमेरिका वासी यहाँ वालों को असम्यक् बतलाते हैं। वे कहते हैं भारतवासी मूर्तिपूजक हैं और उनकी अवस्था बड़ी शोच्य है।

विवेकानन्द ने इस साकार पूजा का अर्थ समझाने के लिये आरम्भ ही में कहा—“भारतवासी मूर्तिपूजक नहीं हैं।*

❀ विवेकानन्द ने हिन्दूधर्म पर व्याख्यान देते हुए अङ्गरेज़ी में जो कहा था, उसका कुछ अंश यह है :—

“ At the very outset I may tell you there is no polytheism in India. In every temple, if one stands by and listens, he will find the worshippers applying all the attributes of God to these *Images*.” *

* * * * *
 “ Why does a Christian go to Church ? Why is the cross holy ? Why does the face turned to the sky in prayer ? Why are there so many images in the Catholic Church ? Why are there so many images in the minds of Protestants when they pray ? My brethren, we can no more think about anything without a material image than we can live without breathing. Omnipresence to almost the whole world means nothing. Has God superficial area ? If not,

विवेकानन्द की वक्तृता-शक्ति, शास्त्रज्ञान, अकाट्यश्रुति एवं तर्कप्रणाली देख, महासभा में उपस्थित विद्वन्मण्डली और साधुसमाज स्तम्भित हो गया। सभा में चारों ओर उन की प्रशंसा होने लगी। अमेरिका में उनकी वक्तृता को ले कर घोर आन्दोलन हुआ। वह आन्दोलन और प्रशंसाध्वनि आटलाण्टिक महासागर पार कर के, देश विदेश में फैल गयी। सब लोगों ने एक स्वर से स्वीकार किया कि विवेकानन्द सचमुच महाज्ञानी पुरुष हैं।

विवेकानन्द केवल महाज्ञानी पुरुष ही न थे, वे साधु पुरुष भी थे। इंग्लैण्ड और अमेरिका वाले केवल ज्ञान के लिये ही उनका सम्मान नहीं करते थे। उनको विश्वास हो गया था कि उनके शरीर में कोई ऐसी दैवीशक्ति उत्पन्न हो गयी है, जिसके कारण उनका इतना विकास हो रहा है।

लोगों का उद्देश्य सम्मान, पेश्वर्य, इन्द्रिय-सुख एवं पाण्डित्य की प्राप्ति की ओर रहता है, किन्तु विवेकानन्द का लक्ष्य केवल आध्यात्मिक उन्नति की ओर था। अमेरिका में इन्हें जैसे जैसे प्रलोभनों में पड़ना पड़ा—वैसे प्रलोभनों में पड़, उन जैसे युषकों का बचना असम्भव है। उनकी जगद्ग्यापिनी प्रतिष्ठा के होने से उनके पास उच्चवंशीय, सुशिक्षिता, युवती महिलाएं सर्वदा आया जाया करतीं और उनकी सेवा करना अपना सौभाग्य समझती थीं। अनेकों ने तो उनके साथ विवाह करना भी

then when we repeat the word we think of the extended earth ; that is all."

—*Lectures on Hinduism.*

(Chicago).

चाहा था। एक अति धनाढ्य कन्या ने एक दिन आ कर उनसे कहा था—“ स्वामिन् ! मैं अपना सर्वस्व और अपना शरीर आपको समर्पण करती हूँ। ” ऐसे प्रलोभनों में पड़ कितने लोग ऐसे हैं, जो लोभ को संवरण कर सकें ?

५ अप्रैल सन् १८९४ ई० के “वेस्टन इविनिङ्ग ट्रान्सक्रिप्ट” नामक संवाद-पत्र में विवेकानन्द के विषय में लिखा था :—

“ He is really a great man, noble, simple, sincere and learned beyond comparison with most of our scholars. * * * A professor at Harward wrote to the people in-charge of the Religious Congress to get him invited to Chicago, saying, He is more learned than all of us together.”

कुछ दिनों बाद इसी समाचारपत्र में फिर यह लिखा गया :—

There is a room at the left of entrance to the Art palace. To this the speakers of the Congress of Religions all repair. * * * The most striking figure one meets in this anti-room is Swami Vivekanand the Hindu monk. * * *

महाशोधि सोसाइटी के सेक्रेटरी एच० धर्मपाल बौद्धधर्म की ओर से निमंत्रित हो कर गये थे। उन्होंने “इण्डियन मिरर” में लिखा था :—

“ The success of the Religions Parliament was, to a great extent, due to Swami Vivekanand.”

आ० म०—५

चिकागो महासभा के प्रधान सभापति रेवेरेण्ड डाक्टर बैरो ने अन्त में अगत्या यह लिखा था :—

“ India the Mother of Religions, was represented by Swami Vivekananda; the orange-monk, who exercised a wonderful influence over his audience.”

विवेकानन्द का यशःसौरभ चारों ओर फैल गया । अमेरिका में अनेक नगरों से व्याख्यान देने के लिये उनके पास आमंत्रण आने लगे । उन्होंने लगभग दो वर्ष तक अमेरिका में घूम फिर कर, अनेक स्थानों में हिन्दूधर्म सम्बन्धी व्याख्यान दिये और हिन्दूधर्म की सार्वभौमिकता वहाँ वालों को समझा दी । उन्होंने वहाँ वालों के मन में यह बात भली भाँति पैठा दी कि—“ हिन्दूधर्म आदि और यथार्थ में सत्य है ” । वहाँ वाले अनेक नरनारियों को ब्रह्मचर्य धारण करा कर, विवेकानन्द ने वेदान्त पढ़ाया और पाश्चात्य देशों में उनको प्रचारिका का काम सौंप, वे बङ्गला सन् १३०२ में अमेरिका से इङ्ग्लैण्ड गये ।

स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में पहुँच कर, प्रथम वर्ष में Madam Loise मेडम लुइस और मिष्टर सैंडसबर्ग (Mr. Sandesburg) को ब्रह्मचर्य धारण करा कर, वेदान्त पढ़ाया । फिर उन दोनों ने स्वामी अभयानन्द और स्वामी कृपानन्द नाम धारण कर, समग्र अमेरिका और योरप में वेदान्त का प्रचार किया ।

जिन दिनों विवेकानन्द अमेरिका में थे, उन दिनों उनके गुरु-भाई और शिष्यगण उनका कुशल-संवाद पत्र द्वारा मँगाया करते थे । वे भी उनके पत्रों का उत्तर दिया करते थे । उन्होंने जो पत्र

वहाँ से लिखे थे, उनमें से एक पत्र का कुछ अंश बानगी के लिये नीचे उद्धृत किया जाता है :—

ओंनमो भगवते रामकृष्णाय

२८वीं दिसम्बर १८९३,

George W. Hale,

541, Dearborn, Avenue,

Chicago.

कल्याणास्पदेषु,

बाबाजी, तुम्हारा पत्र कल मिला। तुमने हमें स्मरण रखा है, इससे हमें बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। भारतवर्ष के संवाद-पत्रों में चिकागो का वृत्तान्त छप चुका है। बड़े आश्चर्य की बात है, हम जो करते हैं वह छिपा कर करते हैं। इस देश में अनेक अद्भुत बातें हैं। विशेष बात तो यह है कि, यहाँ दरिद्र तो कोई है ही नहीं और यहाँ की स्त्रियों की तरह स्त्रियाँ कहीं नहीं देखीं। सब काम ये ही करती हैं। स्कूल, कालेज लड़कियों से भरे हैं। हमारे अभागे देश में उनको घर से बाहिर निकलने तक की मनाई है। यहाँ की स्त्रियाँ बड़ी दयालु हैं। जब से इस देश में हम आये हैं, तब से बराबर वे ही हमें अपने घरों में टिकाती हैं, भोजन कराती हैं और व्याख्यानदि का सारा प्रबन्ध करती हैं। हमें अपने साथ बाज़ार ले जाती हैं—क्या नहीं करतीं, यह नहीं कहा जा सकता। सैकड़ों जन्म धारण कर के भी इनकी सेवा के ऋण से हम मुक्त नहीं हो सकते।

बाबाजी! शाक्त शब्द का अर्थ जानते हो? शाक्त शब्द का अर्थ मदिरा या भड़ग नहीं है। शाक्त का अर्थ है—ईश्वर को समस्त जगत् में विराजित महाशक्ति को जानना एवं समग्र

स्त्रियों में उस महाशक्ति का विकाश देखना। यहाँ वाले इसी अर्थ को चरितार्थ करते हैं। मनु महाराज ने लिखा है—“जिस घर में स्त्रियाँ सुखी रहती हैं उस परिवार पर ईश्वर की कृपा होती है।” यहाँ वाले यही करते हैं, और इसीसे यहाँ वाले सुखी हैं, विद्वान् हैं, स्वाधीन और उद्योगी हैं। हम लोग स्त्रियों को महानीच, अधम, महाहेच और अपवित्र कहते हैं। इसका फल यह है कि, हम स्वयं पशु, दास, उद्यमहीन और महा-दरिद्र हैं।

इस देश के धन का हाल क्या लिखें? पृथिवीतल पर यहाँ वालों के समान धनी जाति दूसरी नहीं है। अंगरेज़ धनी तो हैं, पर उनमें अनेक दरिद्र भी हैं। इस देश में दरिद्र कोई है ही नहीं। अगर नौकर रखना चाहें तो भोजन देने के बाद नित्य छः रुपये और देने पड़ेंगे और इङ्ग्लैण्ड में एक रुपया रोज़। एक साधारण कुली ६) १०० रोज़ से कम में नहीं मिलता; किन्तु यहाँ खर्च भी वैसा ही है। ख़राब से ख़राब चुरट भी चार आने फी चुरट के हिसाब से कम नहीं मिलता। २४) रुपये में मज़बूत जूते का एक जोड़ा मिलता है। जैसी आमदनी है वैसा ही खर्च भी है। यहाँ वाले जैसे कमाना जानते हैं वैसे खर्च करना भी जानते हैं। यहाँ की स्त्रियों की पवित्रता के विषय में क्या लिखें! २५ वर्ष से कम में तो किसी का व्याह होता ही नहीं और आकाश के पत्नी की तरह वे स्वाधीन हैं। हाट घाट लेन देन के सारे काम करती हुई वे चरित्रहीन नहीं हैं। जिनके पास धन है, वे रात दिन ग़रीबों का उपकार करने में व्यस्त रहती हैं और हमारी स्त्रियाँ क्या करती हैं? हमारे देश में नौ या ग्यारह वर्ष की होते ही वे विवाह दी जाती हैं। मनु ने कहा है—“कन्या यैवं पालनीया शिक्तनीयाति यत्नतः।” अर्थात् जिस प्रकार बालक

का ३० वर्ष तक ब्रह्मचर्य से रह कर, विद्याभ्यास करना चाहिये, वैसे ही कन्याओं का भी करना उचित है । किन्तु इसके अनु-सार क्या हम लोगों का व्यवहार होता है ? जब तक तुम लोग अपने देश के स्त्री-समाज की उन्नति न करागे ; तब तक पशु-जन्म से नहीं छुट सकते ।

द्वितीय दरिद्र मनुष्य । हमारे देश में यदि किसी का जन्म नीच कुल में हो तो फिर उसको उन्नत होने की सारी आशा छोड़ देनी पड़ती है ; किन्तु इस देश में ऐसे लोगों की आशा रहती है, भरोसा रहता है । उन्हें आशा है कि, यदि आज हम गरीब हैं, तो कन धनी भी हो सकते हैं, विद्वान् हो सकते हैं, जगन्मान्य हो सकते हैं । यहाँ वाले प्रायः सभी गरीबों की सहायता करने में व्यस्त रहते हैं । औसत लगाने पर मान लो प्रत्येक भारतवासी को आमदनी २५ मासिक है । यह तो सब ही कहते हैं कि, हम बड़े गरीब हैं ; किन्तु भारतवर्ष में ऐसी सभा कितनी है, जो गरीबों की सहायता करती हो । आपके देश में ऐसे कितने मनुष्य हैं—जो बेचारे गरीबों के लिये दुःखी होते हैं ? तुम्हारे देश में डोम आदि पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उनकी उन्नति के लिये तुम लोग क्या करते हो ? उनको मुट्ठी भर अन्न देने के लिये तुम क्या यत्न करते हो, बतला सकते हो ? तुम तो उन्हें देखते ही दूर से कहने लगते हो—“दूर दूर, कूना नहीं ।” तुम्हारे देश में सहस्रों साधु ब्राह्मण फिरा करते हैं । वे लोग इन अधःपतित दरिद्र पददलित गरीब मनुष्यों के लिये क्या करते हैं ? केवल यही कहते हैं “कूओ मत, हमें कूओ मत ” ।

हम इस देश में आये हैं, हम देग नहीं देखते, तमाशा नहीं देखते, अपना नाम नहीं करते—हम देखते हैं, इन दरिद्रों की

उन्नति के लिये उपाय। वह उपाय क्या है? यदि भगवान् ने चाहा, तो तुम्हें पीछे से मालूम होगा।

यहाँ वालों में अनेक दोष भी हैं, धर्मविषय में यहाँ वाले हम लोगों से बहुत नीचे हैं और सामाजिक उन्नति में हम लोगों से ऊंचे हैं। इनके सामाजिक भाव हम ग्रहण करेंगे और हम धर्मशिक्षा इनको देंगे। स्वदेश कब लौट कर आवेंगे; यह नहीं जानते। प्रभु की इच्छा बलवान् है। तुम सब को हमारा आशीर्वाद विदित हो। इति —विवेकानन्द”

इंग्लैंड में कई मास रह कर स्वामी विवेकानन्द ने धर्म-प्रचार किया। उनकी मोहिनी वक्तृत्वशक्ति से अमेरिका की तरह इंग्लैंड में भी, वहाँ वाले बहुत से नर नारियों ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। इन सब में सिसटर निवेदिता ही सर्वप्रधाना थीं। इंग्लैंड की प्रधान प्रधान सभाओं एवं सम्प्रदायों में ब्रह्मचारिणी निवेदिता बड़े आदर और आग्रह के साथ बुलायी जाती थीं। वहाँ वे भारतीय सामाजिक एवं गार्हस्थ्य और पारिवारिक चित्र ऐसे विचित्र ढंग से अङ्कित करतीं कि, सब स्त्री पुरुष समझ लेते कि, भारत का गौरव कैसा उज्ज्वल, कैसा महिमान्वित और कहाँ तक अनुकरणीय है। स्वर्गीय रमेशचन्द्र दत्त ने सिसटर निवेदिता के सम्बन्ध में कहा था—निवेदिता की विद्या बुद्धि और बोलने चालने की क्षमता अलौकिक एवं असामान्य है।

स्वामी विवेकानन्द बङ्गला सन् १३०३ में कई एक यूरोपियन शिष्यों सहित इंग्लैंड से भारतवर्ष में आये। भारत आते समय लङ्का निवासियों के अनुरोध करने पर, वे वहाँ की राजधानी कोलम्बो में गये। वहाँ सुमधुर व्याख्यान देकर,

विवेकानन्द कोलम्बो से कान्दी गये । वहाँ वालों ने स्वामी जी को एक अभिनन्दन-पत्र दिया । वहाँ की प्रधान प्रधान द्रष्टव्य वस्तुओं को देख, वे वहाँ से चलकर जाफना की ओर प्रस्थानित हुए । जिस समय वे दाम्बूल में पहुँचे, उसी समय उनकी गाड़ी का एक पहिया टूट गया । वहाँ उनकी भक्तमण्डली ने अन्य स्थान से एक वैलगाड़ी ला कर, उसमें उन्हें बिठाया और वे अनुराधापुर पहुँचे । बुद्धगया के महाबांधि वृत्त की एक शाखा वहाँ है । उसी प्राचीन वृत्त के नीचे हजारों श्रोताओं के सामने उन्होंने "उपासना" पर एक व्याख्यान दिया । स्वामी जी तामिल भाषा नहीं जानते थे, अतः वे जो कुछ अंगरेज़ी में कहते थे, उसका अर्थ तामिल भाषा में कर के एक द्विभाषिया श्रोताओं को समझा दिया करता था । वहाँ से वे बांनानिया गये । वहाँ वाले स्वामी जी को देख बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें एक अभिनन्दन पत्र दिया । उनके अभिनन्दन पत्र का उत्तर दे स्वामी जी जाफना पहुँचे । जाफना वालों को स्वामी जी के आने का समाचार पहिले ही मिल गया था । अतः वहाँ वालों ने स्वामी जी का स्वागत करने के लिये नगर को भली भाँति सजाया और बड़ी धूमधाम से उनका स्वागत किया और उन्हें हिन्दू कालेज में ले जा कर टिकाया । यहाँ उन्होंने कई दिनों तक वेदान्त का प्रचार किया । अनन्तर वहाँ से चल कर वे जहाज़ पर सवार होने के लिये एम्बान गये । सेतुबन्ध रामेश्वर के एक अंग का नाम पाम्बान है । सेतुबन्ध रामेश्वर, राजा-रामनाद के अधिकार में होने से, उसने स्वामी जी का आगत स्वागत किया । रामेश्वर के दर्शन कर, राजा-रामनाद के अनुरोध से स्वामी जी रामनाद में गये । वहाँ उनके पहुँचने पर, बड़ी धूमधाम से आतिशबाजी कुटायी गयी ।

राजा-रामनाद की स्वामी जी में आन्तरिक श्रद्धा एवं भक्ति थी। स्वामी जी ने पाश्चात्य देशों में धर्मप्रचार कर, भारतवर्ष में सब से प्रथम इसी नगर में पदार्पण किया था, अतः वहाँ के राजा ने वहाँ स्मरणचिह्न स्वरूप एक स्मृति-स्तम्भ खड़ा करवाया। उस पर जो खोदा गया है उसका अनुवाद यह है।

“स्वामी विवेकानन्द पाश्चात्य देशों में वेदान्त धर्म का प्रचार कर आश्चर्य रूप से कृतकार्य हुए, उन्होंने अपने अंगरेज़ शिष्यों समेत, भारत के जिस स्थान में प्रथम पदार्पण किया, रामनाद के राजा भास्कर सेतुपति ने उसी स्थान पर यह स्मृति-स्तम्भ निर्माण करवाया।”

रामनाद से स्वामी जी कलकत्ते गये। वहाँ राजा राधाकान्त देव की विस्तृत ठाकुरबाड़ी में एक विराट सभा हुई, जिसमें बड़ी धूमधाम के साथ स्वामी जी को एक अभिनन्दन पत्र दिया गया।

कलकत्ते में कुछ दिनों रह कर, विवेकानन्द ढाका, चटगाँव और कामरूप गये। वहाँ स्वामी जी का शरीर अस्वस्थ हो गया। अतः कई दिनों के लिये वे शिलाङ्ग गये। वहाँ स्वामी जी के आगमन का समाचार सुन, वहाँ के चीफ कमिश्नर श्रीमान् हैनरी काटन ने स्वामी जी की विशेष अभ्यर्थना की। वहाँ स्वामी जी ने एक व्याख्यान दिया, जिसे सुन हैनरी काटन तथा तत्रस्थ अन्य अंगरेज़ बहुत प्रसन्न हुए।

सन् १९०० ई० में स्वामी जी पेरिस की धर्मसभा में आमंत्रित होकर गये। वहाँ वे तीन मास तक धर्मप्रचार कर, जापान होते हुए कलकत्ता लौट आये। उसी समय उनका स्वास्थ्य बिगड़ा। ४ जुलाई सन् १९०२ ई० की रात के साढ़े नौ बजे भागीरथी तीरस्थ

बेलूर मठ में, उन्होंने इस नश्वर देह को त्याग कर, उस स्थान को पाया, जो योगियों के लिये निर्दिष्ट है ।

स्वामी विवेकानन्द प्रथम भारतीय हिन्दू संन्यासी थे, जिन्होंने विदेशों में जा कर, उन्नीसवीं शताब्दी के तेजोमय प्रकाश में हिन्दू-धर्म का गौरव फैलाया । उन्हें अमेरिका और इंग्लैंड में जो धन मिला उसे उन्होंने जीवधारियों के कल्याणार्थ व्यय किया । उन्होंने बेलूर, अलमोड़ा के पास मायावती, काशी, मदरास आदि स्थानों में दीनजनों की सहायतार्थ मठ स्थापित किये । दुर्भिक्ष पीड़ितों की अनेक स्थानों में उन्होंने सेवा की । दुर्भिक्ष पीड़ित अन्याय बालकों को अनाथालय में पाला पोसा । राजपूताना के अन्तर्गत किशनगढ़ में उन्होंने अनाथालय स्थापित किया था । मुर्शिदाबाद के पास भीषदा ग्राम में अब भी उनका स्थापित अनाथालय चल रहा है । स्वामी जी ने हरिद्वार के पास कनखल स्थान में बीमार साधुओं की सेवा के लिये एक सेवाश्रम स्थापित किया । प्लेग फैलने पर प्लेग के रोगियों की, बहुत सा द्रव्य व्यय करके, सेवा करायी । दरिद्र कंगालों को देख, स्वामी जी सहानुभूति सूचक अश्रुबिन्दु डाला करते थे और अपने भाईबन्दों से कहते थे—
“हाय ! इनको इतना कष्ट है कि, इन्हें ईश्वर का स्मरण करने तक का अवसर नहीं ।”

समग्र इंग्लैंड और अमेरिका को मुग्ध करने वाले स्वामी विवेकानन्द के बनाये अति सरल, मधुर और तेजस्विनी अंगरेज़ी भाषा में, “राजयोग” “भक्तियोग” और “कर्मयोग,” नामक तीन उपादेय ग्रन्थ हैं । स्वामी जी ने “प्रबुद्ध-भारत” नाम का एक मासिक पत्र अंगरेज़ी भाषा में निकाला था, जिसे वे बड़ी योग्यता से सम्पादन करते थे । उसके पुराने अङ्क पढ़ने से अब भी मन प्रसन्न हो जाता है । अंगरेज़ी साहित्य में वेदान्त की चर्चा कर

स्वामी जी ने एक नये युग का प्रादुर्भाव किया । मद्रास की नेट्सन कम्पनी ने स्वामी विवेकानन्द के लेख और व्याख्यानों का संग्रह छाप कर, एक बड़े अभाव की पूर्ति की है और धन्य-वाद पाने का काम किया है ।

श्रीरूप और सनातन गोस्वामी



 के १३०३ में कर्नाट देश में सर्वज्ञ नामक एक

शा



 के १३०३ में कर्नाट देश में सर्वज्ञ नामक एक
 राजा था। वह भारद्वाज गोत्रोत्पन्न यजुर्वेदीय
 ब्राह्मण था। उसने केवल ग्यारह वर्ष राज्य
 कर पाया था कि, इतने में उसकी मृत्यु हो
 गयी। सर्वज्ञ के केवल एक पुत्र था, जिसका नाम अनिरुद्ध था।
 पिता की मृत्यु होने पर शाके १३१४ में वह कर्नाट का अधीश्वर
 हुआ। अनिरुद्ध के दो पुत्र थे। बड़े का नाम रूपेश्वर और छोटे
 का नाम हरिहर था। शाके १३३८ में अनिरुद्ध भी मर गया। पिता
 का श्राद्धादि कर्म समाप्त हो चुकने पर, राज्य पाने के लिये दोनों
 भाइयों में बड़ा झगड़ा हुआ। युद्ध में रूपेश्वर हारा और स्त्री
 पुत्र समेत गौड़ देश के राजा के पास गया। गौड़ेश्वर अनिरुद्ध
 का मित्र था, इसीसे उसने रूपेश्वर को आदर-पूर्वक अपने यहाँ
 रखा। शाके १३५५ में रूपेश्वर का शरीरान्त हुआ। उसके बाद
 उसके पुत्र पद्मनाभ को गौड़ेश्वर ने अपना मंत्री बनाया। उसने
 ६६ वर्ष की अवस्था में मंत्रित्व पद को त्याग किया और गङ्गा-
 तट पर वास करने की कामना से वह गौड़ेश्वर के अधीनस्थ
 निहाटी ग्राम में गया। पद्मनाभ के पाँच पुत्र थे। पुरुषोत्तम,
 जगन्नाथ, नारायण, मुरारि और मुकुन्द उनके नाम थे। मुकुन्द के
 पुत्र का नाम कुमार था। कुमार के पुत्रों के नाम थे सनातन, रूप*
 और वल्लभ।

* कहा जाता है श्रीचैतन्य देव ने इनके सनातन और रूप नाम रखे
 थे। इनके पिता के रखे हुए नाम थे, अमर और सन्तोष।

सनातन विद्या बुद्धि में बङ्ग देश में सब से बढ़ कर गिने जाते थे । श्रीरूप भी सनातन की तरह थे । सनातन विद्या-वाचस्पति से शिक्षा पाकर, श्रीरूप को पढ़ाते थे । श्रीरूप के सनातन गुरु थे । सनातन अपने गुरु से जो पढ़ आते थे, वही श्रीरूप को पढ़ा दिया करते थे ।

१४११ से १४३४ शाके तक सय्यद हुसेनशाह नामक यवन ने गौड़ देश में शासन किया । उसने सनातन और रूप की विद्वत्ता की बड़ाई सुन, उन दोनों को अपना मंत्री नियुक्त किया । धीरे धीरे वे अपने गुणों को दिखला कर, हुसेनशाह के प्रिय-पात्र बन गये । हुसेनशाह ने सनातन को “साकर मल्लिक”† और श्रीरूप को “दबीर-खास”‡ की उपाधि दी थी । यह कोई उपाधिमात्र न थी, किन्तु साथ ही दोनों को जागीरें भी मिली थीं । यवन के पास जाने से वे यवन हो गये होंगे इस अनुमान की भित्ति पर, समाज के अगुओं ने उन दोनों को समाजच्युत कर दिया । उस समय के लोगों की प्रकृति कुछ और ही ढंग की थी । वे अपनी इच्छा से कभी किसी यवन को नहीं कूते थे । यदि कू लेते तो समाज में वे निन्दित समझे जाते थे । यही नहीं किन्तु समाज के मुखिया उन्हें जाति से बाहिर कर दिया करते थे । बादशाह के भय से लोग यवनों की नौकरी कर लिया करते थे । न करने से रक्षा का अन्य उपाय न था । सनातन और रूप ने प्राणभय एवं अत्याचार के भय से बादशाह की

† साकर का अर्थ है ज्ञानवान एवं मल्लिक का अर्थ श्रेष्ठ या मर्यादाशाली है । ‡ दबीर-खास का अर्थ है उत्तम लेखनी । श्रीरूप के हस्ताक्षर अतीव सुन्दर थे । चैतन्यदेव ने श्रीरूप के अक्षरों की बनावट की प्रशंसा करते हुए कहा था—“श्रीरूप के अक्षर मोतियों की लड़ी जैसे हैं ।”

नौकरी करना अङ्गीकार कर लिया था। किन्तु वे स्वयं अपने को यवनसंस्पर्शी जान कर, हीन पुरुष की तरह सङ्कुचित हंते थे। उस समय के लोग कहा करते थे, यवन-विद्या-प्राप्त, यवन-शिक्षित, यवन-भावान्वित, हिन्दू-यवन ; यवन से भी अधम और गया बीता है। हिन्दू आचार को लेकर ही हिन्दूपन है। उस समय का हिन्दू समाज हिन्दुत्व विवर्जित हिन्दुओं को समाजच्युत कर दिया करता था। उस समय आजकल की तरह “पोलिटिकल पाइण्ट आफ व्यू” से हिन्दुत्व-विहीन नाममात्र के हिन्दुओं की संख्या बढ़ाना पाप समझा जाता था। उस समय हिन्दू कहला कर घोर म्लेच्छाचार में रत हिन्दू न थे। आजकल तो मनमाना आहार करके एवं हिन्दू-धर्म के नियमों के सर्वथा विपरीत आचरण करके भी अपने को हिन्दू बतलाने में लोग लज्जित नहीं होते। आजकल के हिन्दू होटलों में खाकर और मांस मदिरा का खुलंखुल्ला सेवन कर, पण्डित कहलाते हैं और हिन्दू समाज के अग्रणी बने हुए हैं। अखाद्य और मुसलमान बावर्ची के हाथ का पकाया हुआ खाना खाने से भी उनका हिन्दुत्व नष्ट नहीं होता। बात तो यह है, आजकल तो सामाजिक बन्धन एकदम शिथिल हो गया है। आजकल चलती उसीकी है जो ऐश्वर्यशाली है। आजकल जिसके पास धन है, उसके पास जाति है, कुल है और सर्वस्व है। वह भले ही यवन से बढ़ कर ही क्यों न हो, पर उसकी ओर कोई उझेली नहीं उठा सकता और ऐसा ही हिन्दू प्रायः समाज का नेता समझा जाता है। बड़े बड़े आचार विचार वाले और अपने को ब्राह्मणों की नाक समझने वाले उसके घर जाकर भोजन करने में अपने को कृतकृत्य मानते हैं। हा ! काल भी कैसा परिवर्तन-शील है !!

जिस समय श्रीचैतन्य प्रभु भारतवर्ष में भ्रमण कर, वैष्णव-धर्म का प्रचार कर रहे थे, उस समय, सत्, असत्, धनी, दरिद्र, पण्डित, मूर्ख आदि लाखों हिन्दू और मुसलमान उनके मुख से निःसृत सुमधुर हरिनाम सुनने को विकल हो उठते थे। उसी समय चैतन्य और रूप को महाप्रभु की महिमा अवगत हुई। वे महाप्रभु से मिलने के लिये उत्कण्ठित हुए। किन्तु राजकाज का ऐसा अडंगा था कि, उनको अपनी अभिलाषा पूरी करने का समय ही नहीं मिल पाता था। एक दिन श्रीरूप ने अपनी और अपने भाई की मानसिक इच्छा, पत्र द्वारा श्री महाप्रभु पर प्रकट की। उसके उत्तर में महाप्रभु ने नीचे उद्धृत श्लोक लिख कर, उन दोनों भाइयों को सान्त्वना प्रदान की।

“परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु।

तद्वदास्वादयत्यन्तर्नवसङ्गरसायनम् ॥”

अर्थात् परार्थीना कुलवती रमणी गृहस्थी के काम धंधे में लगी रहने पर भी, जिस प्रकार नव-सङ्गरस का मन ही मन स्वाद लेती है, वैसे ही विषयकर्म में व्यग्र रहने पर भी तुम भगवदाराधन करते रहो।

चैतन्य देव के इस उपदेश से रूप और सनातन का मन नूतन भाव से आन्दोलित होने लगा। एक दिन रात को जब मूसलधार पानी बरस रहा था, मेघों की कड़कड़ाहट से चारों दिशाएँ काँप रही थीं, बिजली की कड़कड़ाहट से बड़े बड़े वृक्ष चरमरा कर गिर रहे थे, मार्ग जनशून्य पड़ा था, ठीक उसी समय नवाब का बुलावा पाकर उस घोर रात्रि में श्रीरूप, नवाब के पास जा रहे थे। वे एक दारिद्र-प्रपीड़ित धीवर की झोपड़ी के पास होकर जाने लगे। धीवर की स्त्री ने जल में मनुष्य के चलने का छपछप शब्द सुना। स्त्रियाँ स्वभाव ही से डरपोंक

होती हैं । अतः धीवर की स्त्री ने वह शब्द सुन, अपने पति से पूँछा:—

धीवर की स्त्री—ऐसी घोर रात्रि में कौन बाहिर जा रहा है ?

धीवर—इस समय कुत्ते को छोड़ और कौन जायगा ?

धीवर की पत्नी—नहीं, ऐसे विकराल समय में कुत्ता भी न निकलेगा । जान पड़ता है किसी धनी का कोई नौकर होगा ।

धीवर-पत्नी की बात सुन, श्रीरूप को चेत हुआ । वे मन ही मन सोचने लगे—“धन के लालच में पड़ और राजगौरव के अहङ्कार में पड़, मैं पशुओं से भी गयी बीती वृत्ति अवलम्बन कर, जीविका निर्वाह कर रहा हूँ।” इस विचार से श्रीरूप का मन विकल हो उठा । इसी चिन्ता से उनके मन में वैराग्य उदय हुआ । नवाब के पास से लौट कर, उन्होंने सारा वृत्तान्त अपने बड़े भाई सनातन से कहा ।

श्रीचैतन्यदेव नीलाचल से चल कर शान्तिपुर जाते समय रामकेली में आये थे । वहीं सनातन और श्रीरूप को सब से प्रथम उनके दर्शन हुए । वहाँ वे दोनों महाप्रभु के मुख से भक्ति-तत्व और प्रेमसाधन का विषय सुन, वैराग्य रूपी अनल में दग्ध होने लगे । मान सम्भ्रम, धन सम्पत्ति एवं पदगौरव, कोई भी वस्तु उनके मन को शान्त न कर सकी । वे दोनों महाप्रभु के साथ कानाइनाटशाल तक गये । वहाँ महाप्रभु ने उनसे लौट जाने को कहा । वे दोनों वहाँ से लौट कर घर आये और शास्त्रा-लोचना करते हुए समय व्यतीत करने लगे ।

एक दिन श्रीरूप ने सुना कि, महाप्रभु वृन्दावन गये हुए हैं । उस समय उन्होंने अपनी सारी धन सम्पत्ति ब्राह्मणों एवं

कुटुम्बियों को दे डाली और अपने छोटे भाई वल्लभ के साथ प्रयाग आये। उस समय महाप्रभु प्रयाग के किसी देवालय में भावरस में मग्न होकर नृत्य और सङ्कीर्तन कर रहे थे। बहुत से लोग अपने को भूल कर, महाप्रभु का सुमधुर हरिनाम सुन रहे थे। इतने में श्रीरूप और वल्लभ ने तृणगुच्छ दाँत तले दबा, दूर से उनको प्रणाम किया। महाप्रभु ने दूर से उन दोनों को देख, आदर से अपने पास बिठाया और सनातन का कुशल संवाद पूँछा। श्रीरूप ने प्रयाग से एक पत्र लिख कर सनातन के पास भेजा। उस पत्र में उन्होंने गौराङ्ग महाप्रभु की वृन्दावन यात्रा, अपना गृहत्याग तथा किसी बनिये को दस सहस्र रुपये देने आदि का वृत्तान्त लिखा। श्रीरूप का पत्र पढ़ कर, सनातन का मन उद्वेग यंत्रणा से छुटपटाने लगा। वे रात दिन उदास रहने लगे।

सनातन पहले ही से नौकरी चाकरी छोड़ने का विचार कर रहे थे और सहसा क्यों कर मंत्रित्व-पद को छोड़ कर चल दें, इसका उपाय सोच रहे थे। उन्होंने सोचा कि, यदि मैं काम बुरा करूँगा तो बादशाह स्वयं मुझे निकाल देगा। अतः वे शिथिलता दिखला कर, मन से काम न करने लगे। बादशाह के भेजे आदमी आये, तब उनसे उन्होंने कहा—मेरा शरीर अस्वस्थ है। किन्तु राजवैद्य ने उनकी परीक्षा कर, जाना कि उनका कहना ठीक नहीं। तब एक दिन बादशाह स्वयं सनातन के घर पर गया और बहुत कुछ समझाया बुझाया भी, पर उनके मन में उसकी एक भी बात न जमी। जब बादशाह ने देखा कि, सनातन को रोकने का कोई उपाय नहीं, तब उसने मन में दुःखी हो उन्हें कारागार में बंद करवा दिया।

उड़िया प्रदेश के राजा प्रतापरुद्र के साथ जब हुसेनशाह

का भगड़ा हुआ, तब किसी कार्यवश हुसेनशाह को दक्षिण प्रदेश की यात्रा करनी पड़ी। उन्होंने अपने साथ सुचतुर बुद्धिमान मंत्री सनातन को ले जाने का विचार किया; किन्तु सनातन ने अस्वीकार करते हुए कहा—“मैं आपके साथ देवता-निग्रह और ब्राह्मण के ऊपर अत्याचार करने के लिये न जाऊँगा।” यह सुन बादशाह क्रुद्ध हो चला गया। जब हुसेनशाह उड़िया की ओर चला गया, तब सनातन ने कारागार-रक्षक से विनती करके कहा:—

सनातन—देखो भाई! मैंने तुम्हारा एक बार कैसा उपकार किया था। अब तुम उसका बदला पूरा कर, मेरे प्रति प्रत्युपकार करो और अपने बाल बच्चों को मिठाई खिलाने के लिये पाँच हजार रुपये लेलो।

इस पर कारागार-रक्षक राजी न हुआ। तब सनातन ने उससे फिर कहा:—

सनातन—तुम डरो मत! मैं फकीर हो कर देश-देशान्तर को घूमने के लिये यहाँ से चला जाऊँगा। मैं यहाँ न रहूँगा। तुम बादशाह को जैसा समझा दोगे, वह वैसा ही मान लेगा। मैं तुमको और भी दो सहस्र रुपये दूँगा।

सनातन ने सात-हजार रुपये कारागार-रक्षक को दिये और रात के समय ईशान नामक नौकर को साथ ले, वे वहाँ से भागे। ईशान के पास कुछ सोने की मोहरें थीं, रास्ते में पातड़ पहाड़ के पास कई एक डाकुओं ने उनके लिये, ईशान का पीछा किया। जब यह-बात सनातन को विदित हुई, तब उन्होंने वे
आ० म०— ६

कुटुम्बियों को दे डाली और अपने छोटे भाई वल्लभ के साथ प्रयाग आये। उस समय महाप्रभु प्रयाग के किसी देवालये में भावरस में मग्न होकर नृत्य और सङ्कीर्तन कर रहे थे। बहुत से लोग अपने को भूल कर, महाप्रभु का सुमधुर हरिनाम सुन रहे थे। इतने में श्रीरूप और वल्लभ ने तृणगुच्छ दाँत तले दबा, दूर से उनकी प्रणाम किया। महाप्रभु ने दूर से उन दोनों को देख, आदर से अपने पास बिठाया और सनातन का कुशल संवाद पूँछा। श्रीरूप ने प्रयाग से एक पत्र लिख कर सनातन के पास भेजा। उस पत्र में उन्होंने गौराङ्ग महाप्रभु की वृन्दावन यात्रा, अपना गृहत्याग तथा किसी बनिये को दस सहस्र रुपये देने आदि का वृत्तान्त लिखा। श्रीरूप का पत्र पढ़ कर, सनातन का मन उद्वेग यंत्रणा से कूटपटाने लगा। वे रात दिन उदास रहने लगे।

सनातन पहले ही से नौकरी चाकरी छोड़ने का विचार कर रहे थे और सहसा क्यों कर मंत्रित्व-पद को छोड़ कर चल दें, इसका उपाय सोच रहे थे। उन्होंने सोचा कि, यदि मैं काम बुरा करूँगा तो बादशाह स्वयं मुझे निकाल देगा। अतः वे शिथिलता दिखला कर, मन से काम न करने लगे। बादशाह के भेजे आदमी आये, तब उनसे उन्होंने कहा—मेरा शरीर अस्वस्थ है। किन्तु राजवैद्य ने उनकी परीक्षा कर, जाना कि उनका कहना ठीक नहीं। तब एक दिन बादशाह स्वयं सनातन के घर पर गया और बहुत कुछ समझाया बुझाया भी, पर उनके मन में उसकी एक भी बात न जमी। जब बादशाह ने देखा कि, सनातन को रोकने का कोई उपाय नहीं, तब उसने मन में दुःखी हो उन्हें कारागार में बंद करवा दिया।

उड़िया प्रदेश के राजा प्रतापरुद्र के साथ जब हुसेनशाह

का भगड़ा हुआ, तब किसी कार्यवश हुसेनशाह को दक्षिण प्रदेश की यात्रा करनी पड़ी। उन्होंने अपने साथ सुचतुर बुद्धिमान मंत्री सनातन को ले जाने का विचार किया; किन्तु सनातन ने अस्वीकार करते हुए कहा—“मैं आपके साथ देवता-निग्रह और ब्राह्मण के ऊपर अत्याचार करने के लिये न जाऊँगा।” यह सुन बादशाह क्रुद्ध हो चला गया। जब हुसेनशाह उड़िया की ओर चला गया, तब सनातन ने कारागाररत्नक से विनती करके कहा:—

सनातन—देखो भाई ! मैंने तुम्हारा एक बार कैसा उपकार किया था। अब तुम उसका बदला पूरा कर, मेरे प्रति प्रत्युपकार करो और अपने बाल बच्चों को मिठाई खिलाने के लिये पाँच हजार रुपये लेलो।

इस पर कारागार-रत्नक राज़ी न हुआ। तब सनातन ने उससे फिर कहा:—

सनातन—तुम डरो मत ! मैं फन्सीर हो कर देश-देशान्तर को घूमने के लिये यहाँ से चला जाऊँगा। मैं यहाँ न रहूँगा। तुम बादशाह को जैसा समझा दोगे, वह वैसा ही मान लेगा। मैं तुमको और भी दो सहस्र रुपये दूँगा।

सनातन ने सात हजार रुपये कारागार-रत्नक को दिये और रात के समय ईशान नामक नौकर को साथ ले, वे वहाँ से भागे। ईशान के पास कुछ सोने की मोहरें थीं, रास्ते में पातड़ पहाड़ के पास कई एक डाकुओं ने उनके लिये, ईशान का पीछा किया। जब यह बात सनातन को विदित हुई, तब उन्होंने वे

आ० म०— ६

मोहरें उन डाँकुओं को दिलवा दीं और ईशान को भी घर लौट जाने की आज्ञा दी। वहाँ से वे अकेले उदासीन वेश से वृन्दावन की ओर चले। उधर श्रीरूप प्रयाग में महाप्रभु के शिष्य हो गये। गौराङ्ग ने उनके पवित्र हृदयक्षेत्र में भक्ति-कल्प-तरु का महाबीज बोया और वृन्दावन जाने के लिये उन्हें आज्ञा दी और वे स्वयं काशी की ओर चल दिये।

वृन्दावन जाते समय, सनातन एक दिन रास्ते में हाजीपुर में ठहरे और एक उद्यान में वृत्त के नीचे बैठ नामकीर्तन करने लगे। इतने में उनके बहनोई अकस्मात् वहाँ पहुँच गये। राज-तुल्य महिमान्वित सनातन को मलिन-वसन और उदासीन वेश धारण किये देख, वे बहुत दुःखी हुए। उन्होंने बहुत चाहा कि, सनातन घर लौट चलें, किन्तु उनका सारा प्रयत्न विफल हुआ। उन्होंने सनातन को अपने पास का दुशाला शीत से बचने के लिये देना चाहा, किन्तु सनातन ने उसे लेना स्वीकार न किया। अन्त में बहुत कहने सुनने पर, सनातन ने एक लाल कम्बल लेना स्वीकार किया। उसी कम्बल को आँदें हुए सनातन काशी पहुँचे। उस समय महाप्रभु काशी ही में थे। सनातन, गौराङ्ग के चरणों का आश्रय लेने के लिये, दाँत तले तिनका दाबे, महाप्रभु के वासस्थान के द्वार पर खड़े रहे। भक्तप्रिय गौराङ्ग को जब यह बात मालूम हुई, तब वे स्वयं द्वार तक आये और सनातन को गले लगा लिया। फिर उनके बाल बनवाये और नये वस्त्र पहिने का उनसे अनुरोध किया। किन्तु सनातन एक पुराना वस्त्र माँग लाये और उसीको उन्होंने पहिना। सनातन के शरीर पर लाल कम्बल देख महाप्रभु ने मन में सोचा कि, “सनातन अभी तक विषयसुख को सम्पूर्ण रूप से छोड़ने में समर्थ नहीं हो पाये।” जब भक्त सनातन को महाप्रभु का यह भाव

विदित हुआ ; तब उन्होंने वह कम्बल एक दरिद्र मनुष्य को दे डाला । जाड़े से बचने के लिये उन्होंने एक फटी कथड़ी मात्र धारण की । सनातन के इस कार्य को देख महाप्रभु ने कहा—“क्या उत्तम वैद्य कभी रोग को शेष रहने देना है” ?

चैतन्यदेव दो मास तक सनातन को क्रमागत भक्ति की शिक्षा दे, नीलाचल चले गये । जाते समय सनातन से कहते गये । “तुम वृन्दावन जाओ, वहाँ तुम्हारे दोनों भाई हैं । उनसे जाकर मिलो ।” महाप्रभु के आज्ञानुसार सनातन वृन्दावन गये । वृन्दावन पहुँच कर सनातन को विदित हुआ कि, श्रीरूप उनकी खोज में दूसरे मार्ग से काशी गये हैं । सुबुद्धिराय* ने सनातन को बड़े आदर के साथ रखा । सनातन परम चैरागी थे । वे दो दिन तो सुबुद्धिराय के घर में रहे, तीसरे दिन एक वृत्त के नीचे आकर पड़ रहे । वे नित्य वन से लकड़ी बीन कर बाज़ार में बेचते और लकड़ियों को बेचने पर जो कुछ मिलता उसमें से थोड़े से पैसे अपने आहार के लिये निकाल, शेष पैसें का वे दोन कंगालों का बाँट दिया करते थे ।

* सुबुद्धिराय किसी समय गौड़देश के अधीश्वर थे । सैय्यद हुसेनखाँ उनका नौकर था । हुसेनखाँ ने जब राजकार्य में प्रमाद किया, तब सुबुद्धिराय ने उसके एक चाबुक मारा । सदा एक सा दिन किसी का नहीं जाता । भाग्यविपर्यय से सुबुद्धिराय को मुसलमानाधिपति ने राज्यच्युत किया और हुसेनखाँ नवाब हुआ । हुसेनखाँ ने नवाब होने के कुछ दिनों बाद तक अपने पुराने प्रभु के प्रति श्रद्धा भक्ति दिखलायी, किन्तु उसकी स्त्री पहले की बात नहीं भूली थी, बेगम ने एक दिन चाबुक का चिन्ह दिखला कर उससे कहा—“यह काहे का दाग है, तुम जानते हो ?”

हुसेनखाँ—हाँ, मुझे अच्छी तरह मालूम है ।

एक दिन सनातन को यमुना स्नान करने के लिये जाते समय एक बहुमूल्य मणि मिली। उसे किसी भिक्षुक को देने के लिये वे यमुना तट पर बैठे थे। बहुत देर तक बैठे रहने पर भी जब उन्हें कोई भिक्षुक न दिखलायी पड़ा, तब उसे एक जगह रख और उसे बालू से ढक, वे जल में धसे। वे स्नान कर के यमुना से निकल ही रहे थे कि, इतने में एक ब्राह्मण आया और सनातन से बोला :—

ब्राह्मण—महाशय ! गत रात्रि में मैंने स्वप्न में देखा है कि, आपने मेरा दरिद्र दूर करने के लिये मुझे बहुत सा धन दिया है। आप एक ऐश्वर्यशाली व्यक्ति हैं और स्वप्न भी कभी कभी

बेगम—तब तुम इसका बदला क्यों नहीं लेते ? तुम सुबुद्धि को इसके अपराध में प्राणदण्ड दो। नहीं तो मैं जल में कूद कर प्राण दे दूँगी।

हुसेनखाँ—मैंने उसका नमक खाया है। मैं उसके साथ घटियायी न करूँगा।

बेगम के बहुत ज़िद्द करने पर हुसेन ने सुबुद्धि के मुख में पानी डाल कर उसे भ्रष्ट कर दिया। सुबुद्धि सर्वस्व त्याग कर काशी में आये। वहाँ पण्डितों से प्रायश्चित्त पूँछा। पण्डितों ने कहा इसका प्रायश्चित्त “प्राणत्याग” है, किन्तु सुबुद्धि ने उनका कहना न मान, चैतन्यप्रभु से पूँछा। चैतन्यदेव ने कहा—“तुम वृन्दावन जा कर कृष्णनाम कीर्तन करो, तुम्हारे सारे पाप नाश होंगे। कृष्णनाम ही महापापों को नाश करने का एक मात्र उपाय है।” तभी से सुबुद्धिराय वृन्दावन में अत्यन्त दीन कंगाल की तरह, नामकीर्तन कर, जीवन व्यतीत कर रहे थे। मथुरा-माहात्म्य को संग्रह कर के, सब से प्रथम उन्होंने ही उसे प्रकाशित किया था।

सत्य निकलते हैं, यह सोच कर मैं आपके पास आया हूँ।

सनातन—सामने बालू से ढकी बहुमूल्य मणि रखी है उसे आप लेजाइये।

ब्राह्मण ने बहुत ढूँढ़ा पर उसे वह रत्न न मिला। तब उसने सनातन से कहा :—

ब्राह्मण—महाशय ! आपने इस दरिद्र ब्राह्मण के साथ ऐसा उपहास क्यों किया ? यदि आप नहीं कर देते तो मैं वैसे ही चला जाता।

सनातन (दुःखी हो कर) आपको अवश्य कष्ट हुआ, आप ठहरिये, मैं अभी बतलाये देता हूँ।

यह कह और स्नान-क्रिया समाप्त कर, वे उस स्थान पर गये। उन्होंने ब्राह्मण से कहा :—

सनातन—“ ब्रह्मदेव ! मैं स्नान कर चुका हूँ। उसे अब मैं न छुऊँगा। आप अनुग्रह करके मणि ले लीजिये।

उस स्थान की बालू हटाते ही ब्राह्मण को मणि मिल गयी। वह उस मणि को पा कर अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ घर गया। इतने में उसके मन में यह विचार उदय हुआ कि—“ इसमें ऐसी कौन सी घृणित वस्तु है, जिसे गोस्वामी जी ने पास रखना तो दूर रहा, छुआ तक नहीं और मैं उसे पाकर इतना प्रसन्न हुआ। उन्होंने इसे क्यों नहीं छुआ। अवश्य इसका कोई कारण है। जिस पदार्थ को पाकर वे पृथिवी के मणि मुक्ताओं को तुच्छ जानने लगे हैं; मैं भी उसे पाने के लिये मन लगाऊँगा। ”

ब्राह्मण लौट गया और सनातन से धर्म सीख कर उसने नया जीवन प्राप्त किया ।

एक बार किसी दिग्विजयी पण्डित ने रूप और सनातन गोस्वामी को विचारार्थ निमंत्रण दिया । निमंत्रण को अस्वीकार कर, उन दोनों ने उस पण्डित को जयपत्र लिख दिया । उस पण्डित ने उस जयपत्र पर जीव* गोस्वामी से हस्ताक्षर करने को कहा । जीव गोस्वामी से ब्राह्मण की स्पर्द्धा और अपने गुरु का अपमान सह्य न हुआ । उन्होंने कहा मैं शास्त्रार्थ करूँगा । शास्त्रार्थ में पण्डित हार गया । यह सुन श्रीरूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी पर अप्रसन्न भी हुए और कहा— “ तुम जय पराजय, मान अपमान त्याग कर, वैरागी हुए हो, उस जया-भिलापी पण्डित से हार मानने की, अपेक्षा तुमने स्वयं अमानी होकर, दीनता पूर्वक उसे सम्मानित क्यों न किया ? जीव ! तुम अभी तक वैष्णवधर्म ग्रहण करने योग्य उपयुक्त पात्र नहीं हुए । ”

सनातन एक बार महाप्रभु के दर्शन करने के लिये वृन्दावन से पुरी गये । रास्ते में उनके शरीर में अति घृणित कुष्ठ रोग उत्पन्न हो गया । इस घृणित अवस्था में गुरुदेव के सम्मुख जाना अनुचित समझा उन्होंने जगन्नाथ के रथ के पहिये के नीचे दब कर प्राणत्यागना निश्चय किया । इतने में उनको

✽ जीव गोस्वामी, रूप और सनातन गोस्वामी के भतीजे और वल्लभ के पुत्र थे । सनातन के गुरु विद्यावाचस्पति और रूप के गुरु सनातन और जीव गोस्वामी के गुरु रूप गोस्वामी थे । किन्तु जीव गोस्वामी के वैदान्तिक गुरु काशीनिवासी मधुसूदन वाचस्पति महाशय थे । यह एक प्रधान ग्रन्थकार थे । “ भगवत्-पट्-सन्दर्भ ” और “ लघु-तोपिनी ” इनके प्रधान ग्रन्थ हैं । इन्होंने वृन्दावन में राधादामोदर का मन्दिर बनवाया था ।

महाप्रभु मिल गये । सनातन को देखते ही महाप्रभु व्यग्रता पूर्वक जल्दी से उनकी ओर झुपटे । उधर सनातन गोस्वामी सङ्कोच वश पीछे हटे और बोले:—

सनातन—प्रभो ! मुझे मत छूना । मैं अति नीच हूँ, इसीसे मैं कोढ़ी हो गया हूँ । मुझे क्षमा कीजिये ।

किन्तु महाप्रभु ने न माना और गाढ़ आलिङ्गन कर कहा:—

चैतन्य—मेरे लिये तुम्हारी देह अति पवित्र है । तुम्हारे प्रति वृणा दिखलाने से मेरा धर्म नष्ट होगा ।

चैतन्यदेव ने दिव्यज्ञान के प्रभाव से सनातन के मन का भाव जान कर यह भी कहा:—

चैतन्य—सनातन ! तुमने देहत्याग करने की इच्छा की है ; किन्तु ऐसा करने से तुम्हें कृष्ण न मिलेंगे । कृष्ण की प्राप्ति का उपाय भक्ति और भजन है । तुम वृन्दावन जाकर, श्री-कृष्ण की वृन्दावन-लीला के माधुर्य रस को स्वयं चखा करो और दूसरों को चखाओ ।

गौराङ्ग के आज्ञानुसार वे फिर वृन्दावन आये ।

जब वृन्दावन से कोई यात्री जगन्नाथ जी जाता, तब महाप्रभु सब से पहले उससे यह पूँछते—“ हमारे रूप सनातन कैसे हैं ? वहाँ वे किस प्रकार कालक्षेप करते हैं ? ” तब वह कहता “ निराश्रय होकर दोनों जने वृत्त के नीचे सोते हैं, भित्तान्न से पेट भरते हैं, कथड़ी और करुवा मात्र उनके पास हैं । आठ पहर में चार दण्ड सोते हैं । शेष समय नाम-जप, सङ्कीर्तन और भक्तिशास्त्र के प्रणयन में व्यतीत करते हैं । ”

सनातन ने बृहद्भागवतामृत हरिभक्तिविलास और उसकी दिग्दर्शनी नामक टीका, लीलास्तव एवं भागवत के दशमस्कन्ध पर वैष्णवतोषिनी नामक टीका प्रणयन की। श्रीरूप ने भक्ति-रसामृत, मथुरा-माहात्म्य-पदावली, हंसदूत, उद्धवसन्देश, अष्टा-दशक-छन्दस्तव-माला, उत्कलिकावली, प्रेमन्दुसागर, नाटक-चन्द्रिका, लघु-भागवत-तोषिनी, विदग्धमाधव, ललितमाधव, दानकेली-भानिका, आदि सुप्रतिष्ठित बहुत से ग्रन्थ रचे। विदग्ध माधव १४४७ और दानकेली-भानिका १४६३ शके में रचे गये। इन सब ग्रन्थों में भक्त-भक्ति, कृष्णतत्व, हरिभक्ति प्रभृति वैष्णवों के नित्यकर्तव्य अति उत्तम रूप से लिखे गये हैं।

श्रीरूप और सनातन ने श्रीवृन्दावन ही में मानवी लीला सम्भरण की थी। विद्या, पद और ऐश्वर्य से गौरवान्वित होकर भी किस प्रकार निरभिमान, निर्लोभ, प्रेमिक एवं वैरागी होना चाहिये, रूप और सनातन इसके दृष्टान्त थे।

दुःख इस बात का है कि, उसी सम्प्रदाय के वर्तमान अनुयायी रूप सनातन के आदर्श मार्ग को छोड़ कर, सर्वथा उसके विपरीत आचरण करते हैं। जिस धन को उन्होंने विषवत् समझ कर, परित्याग किया था, उसीको वर्तमान समय के उसी सम्प्रदाय के अनुयायी, अमृतवत् संग्रह करते हैं और जिस विद्याभक्ति और नामसङ्कीर्तन को उन्होंने अपनाया था, उन्हें वे लोग हेय समझ, उनसे कोसों दूर रहते हैं। इसीसे किसी ने ठीक कहा है :—

“कालस्य कुटिला गतिः।”

महात्मा पौहारी बाबा





जो




 नपुर जिला के अन्तर्गत प्रेमापुर ग्राम में अयो-
 ध्यानाथ तिवारी नामक एक शुद्धाचारी श्री-
 वैष्णव रहते थे । वे श्रीरामानुजीय सम्प्रदाय
 की बड़गल* शाखा के अनुयायी थे । इनके
 एक सगा भाई और था जो इनसे बड़ा था । उसका नाम
 लक्ष्मीनारायण था । लक्ष्मीनारायण घर बार छोड़ कर, गाज़ीपुर
 के अन्तर्गत कूखी नामक एक ग्राम में, गङ्गा किनारे वन में कुटी
 बना कर, साधन भजन और योगाभ्यास करने लगे । आज
 कल तो गङ्गा उस ग्राम को छोड़, दूर चली गयी हैं, किन्तु
 ६० वर्ष पहले वे उस ग्राम के नीचे ही बहती थीं ।

❀ श्रीरामानुजीय सम्प्रदाय को दो शाखाएँ हैं । एक “ बड़गल ” और
 दूसरी “ तैङ्गल ” । इन दोनों दलों के विषय में एक उपाख्यान है । एक
 बार श्रीसम्प्रदाय के दो अनुयायी पूजन के कार्य में नियुक्त थे । इतने में
 उन्होंने अपने उपास्य देव श्रीरङ्ग जी के रथ को आते देखा । उनमें एक तो
 अपना कृत्य अधूरा छोड़ रथ के पास दर्शन के लिये पहुँचा, दूसरा अपना
 कृत्य पूरा कर के गया । जो प्रथम आया था, उससे श्रीरङ्ग जी ने पूँछा—
 “ तुम्हारा तिलक असम्पूर्ण क्यों है ? ” उसने कहा—“ जब मुझे उपास्य
 देव के साक्षात् दर्शन हो रहे हैं, तब उपासना की क्या आवश्यकता है ?
 इसीसे मैं अधूरी पूजा छोड़ कर, उठ आया हूँ । ” दूसरे साधक से पूँछने
 पर उसने कहा—“ उपासना द्वारा उपास्य देव की प्राप्ति होती है, इसीसे
 मैं पूजन पूरा किये बिना नहीं आया । ” दोनों के उत्तर सुन कर, श्रीरङ्ग जी
 ने पहले से कहा—“ तुम बड़गल नाम से प्रसिद्ध हो ” और दूसरे से कहा—

अयोध्यानाथ के तीन पुत्र थे। बड़े का नाम गङ्गाराम, मझले का हरभजन, छोटे का बलराम। बाल्यावस्था में चेचक निकलने से हरभजन दास का दहिना नेत्र नष्ट हो गया। उस एक चक्षु-हीन बालक को, उसके माता पिता उसका आदर करने के लिये शुक्राचार्य कह कर पुकारते थे। सन् १८४० ई० में उक्त प्रेमापुर ग्राम में हरभजन का जन्म हुआ था। हरभजन जब दस वर्ष का था, तब साधु लक्ष्मीनारायण बीमार हुए और उनके दोनों पैर सूज गये। किसी नीम हकीम ने उनके पैर से रक्त निकलवा डाला।

शरीर से एक साथ अधिक रक्त निकल जाने से नेत्र तेज-हीन हो गये। नेत्रों की उग्यांति क्रमशः नष्ट होते देख लक्ष्मीनारायण सुरमा व्यवहार करने लगे। वह सुरमा ऐसा विपत्ता था, कि उसे लगाते ही नेत्रों में दारुण पीड़ा होने लगती। उस सुरमे को दो चार दिन लगाने से उनके नेत्र और सारा मुख सूज गया और आठ दस दिन के भीतर ही नेत्रों में देखने की शक्ति न रही। अयोध्यानाथ ज्येष्ठ भ्राता का यह कष्ट देख बड़े कातर हुए और उनकी सेवा शुश्रूषा के लिये अपने ज्येष्ठ पुत्र को रखना चाहा। तब लक्ष्मीनारायण ने कहा गङ्गाराम को घरेलू कामधंधे के

“तुमको सब लोग—तिङ्गल कहेंगे।” यह तो उपाख्यान है, किन्तु तिङ्गल, बड़गल सम्बन्धी मुख्य अठारह भेद हैं। बड़गलों की पहचान यह है कि वे बिना सिंहासन का तिलक करते हैं और तिङ्गल सिंहासनदार तिलक लगाते हैं। कुटिल काल की कुटिलता से दक्षिण प्रान्त में इन दोनों दलों में परस्पर का वैमनस्य बहुत दूर तक पहुँच गया है। “अद्वेष्टा सर्वभूतानां” इस भगवद् आज्ञा के सर्वथा विरुद्ध उन दोनों का आचरण विचारशीलों के निकट बड़े क्षोभ और लज्जा का कारण है।

लिये तुम अपने पास रखो और छोटे पुत्र* शुकाचार्य का हमारे साथ कर दो। इस पर अयोध्यानाथ ने कहा—“शुकाचार्य निरा बालक है। वह आपकी ठीक ठीक सेवा न कर सकेगा।” किन्तु लक्ष्मीनारायण न माने। अन्त में बड़े भाई का मन न बिगड़े, यह सोच अयोध्यानाथ ने शुकाचार्य को उनकी सेवा में नियुक्त कर दिया। दस वर्ष का बालक हरभजन माता पिता की स्नेहसिक्त गोदी को छोड़, कुली ग्राम के निर्जन वन में चाचा की सेवा में नियुक्त किया गया। बीच में हरभजन एक बार घर आया था और यज्ञोपवीत संस्कार हो चुकने पर, फिर अपने चाचा के पास लौट गया।

विद्या-शिक्षा

चाचा की कुटी में हरभजन ने विद्याभ्यास करना आरम्भ किया। वह नित्य सबरे गङ्गास्नान कर के दस बजे तक पढ़ा करता, फिर रसोई बनाने के कार्य में लगता था। रसोई बना चुकने पर हरभजन अपने चाचा और उनके एक शिष्य को भोजन करा कर स्वयं भोजन करता था। लगभग एक वर्ष तक इस प्रकार समय व्यतीत कर, शुकाचार्य गाजीपुर के अन्तर्गत हुसेनपुर नामक ग्राम में, शिवरत्न परिडल के पास संस्कृत पढ़ने के लिये जाने लगा। कुछ दिनों तक उनके पास संस्कृत एवं ज्योतिष शास्त्र पढ़ कर वह शङ्करा ग्राम में नन्दा नामक परिडल के पास “बालबोध, शीघ्रबोध” आदि ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी आरम्भिक ग्रन्थ पढ़ने लगा। जब वह तेरह वर्ष का हुआ; तब उसने व्याकरण पढ़ना चाहा और गाजीपुर में बैचन परिडल के

* उस समय अयोध्यानाथ के तीसरे पुत्र का जन्म नहीं हुआ था।

पास उसने सारस्वतचन्द्रिका पढ़ी । इसके एक वर्ष बाद गोपाल पण्डित से उसने “वेदान्तपञ्चदशी” उत्तम रूप से पढ़ी । असामान्य स्मरणशक्ति के प्रभाव से वह थोड़े ही समय में अच्छा विद्वान् हो गया । उस समय एक बार वह अपनी माता के दर्शन करने के लिये प्रेमापुर गया और दर्शन कर के लौट आया ।

तीर्थयात्रा और साधन

सन् १८४६ ई० में साधु लक्ष्मीनारायण का शरीरान्त हुआ । हरभजन चाचा का और्द्धदेहिक कर्म कर, उसी कुटी में रहने लगे । लक्ष्मीनारायण के भगवान् की कई एक मूर्तियाँ थीं । हरभजन उनकी अर्चना कर समय व्यतीत करने लगे । पर इससे उनका मन शान्ति न पा सका । उस समय उनका चित्त बड़ा उद्विग्न और चिन्ताकुल हुआ । यहाँ तक कि, उन्होंने रसोई बनाना छोड़ दिया और वे किसी दिन पाव भर, किसी दिन आधसेर दूध पी कर, रहने लगे । यही नहीं किसी किसी दिन वे निराहार भी रहने लगे ।

सन् १८४७ ई० में भगवान् के विग्रहों का पूजन, चाचा के मंत्र-शिष्य को सौंप, हरभजन तीर्थयात्रा के लिये चल दिये । जगन्नाथपुरी, सेतुबन्धरामेश्वर, चिदम्बरम्, आदि तीर्थों में पैदल घूमते फिरते, हरभजन गिरनार पर्वत पर पहुँचे । वहाँ उन्हें एक महात्मा मिल गये । उन्हीं महापुरुष ने हरभजन को योग के साधन बतलाये । हरभजन लगभग तीन वर्ष तक तीर्थाटन कर और योगाभ्यास कर, फिर अपने चाचा की कुटी में लौट आये । लौट कर चाचा की समाधि को खोदकर, उनकी अस्थियों को गङ्गा में बहाया और समाधि के स्थान पर एक

चबूतरा बनवाकर, काले पत्थर की उनकी चरणपादुका बनवा कर स्थापित कीं। इतने में उनके पिता भी परलोकवासी हुए।

गिरनार से लौटने पर हरभजन की बातचीत में अन्तर पड़ा। वे अपने को हम या मैं न कह कर 'दास' कहने लगे और पुरुष को 'बाबा' तथा स्त्रियों को 'माईजी' कह कर सम्बोधन करने लगे।

वे नित्य दिन के दस बजे तक स्नान पूजनादि में लगे रहते। सूर्योदय के पूर्व जिस समय स्नान कर वे खड़े खड़े हाथ जोड़ कर स्तवपाठ आरम्भ करते, उस समय यह जान पड़ता कि, मानों उनके सामने देवतागण आना ही चाहते हैं। पूजा पूरी कर, वे चार पाँच घंटे तक आश्रम में बैठ कर योगाभ्यास करते। तदनन्तर आश्रम से निकलते थे और स्वयं दाल रोटी बना कर भोजन करते थे। भोजन के उपरान्त लगभग चार घंटे तक वे विश्राम करते और अभ्यागतों के साथ बातचीत करते थे। तदनन्तर वे फिर योगाभ्यास में प्रवृत्त होते। इस प्रकार जब कुछ दिन बीत गये, तब उन्होंने विचारा कि, हाथ से रोटी करने में बहुत समय व्यतीत होता है; अतः धीरे धीरे उन्होंने आहार घटाना आरम्भ किया और यहाँ तक साधन किया कि, आहार के समय थोड़े से बिल्वपत्रों को पीस कर, वे उन्हें दूध के साथ उतार जाते। कभी पन्द्रह सोलह काली मिर्च घोट क्लान कर जल के साथ पी जाते और कभी कभी निर्जल उपवास कर डालते। इस प्रकार कई वर्ष बिता कर, एक बार माघस्नान के लिये वे प्रयाग आये। प्रयाग आते समय वे प्रेमापुर भी गये और वहाँ दो तीन दिन रहकर अपने साथ अपनी माता को भी प्रयाग में लाये। प्रयाग से लौट कर उन्होंने अपने आश्रम की मरम्मत करवायी और पूजा-गृह के नीचे योगाभ्यास के लिये एक गुफा बनवायी। गुफा

वन चुकने पर, वे एक दिन, फिर दो दिन, इस प्रकार क्रमशः एक सप्ताह तक उसमें रहने लगे। गुफा में रह कर योगाभ्यास को छोड़ पूजार्चन अथवा आहार आदि कुछ भी नहीं करते थे। तभी से लोगों ने उनका नाम पौहारी* बाबा रख लिया।

पौहारी बाबा साधारण संन्यासियों की तरह न तो सारे शरीर में भस्म लगाते और न मूँड़ मुड़ाते थे। वे मस्तक के ऊपर बालों का चूड़ा बाँधा करते थे। कौपीन पहनते और पैर तक लंबी एक कफनी कंधे पर डाले रहते थे।

कुछ दिनों तक इस प्रकार समय व्यतीत कर योग सम्बन्धी कोई बात जानने के लिये उन्हें एक बार फिर गिरनार जाने की आवश्यकता पड़ी; किन्तु अयोध्या पहुँच कर उनको एक साधू से विदित हुआ कि, उस सिद्धपुरुष ने उत्तराखण्ड में जाकर शरीर छोड़ दिया। साधू से यह संवाद पाकर, वे फिर गिरनार न गये और अयोध्या में श्रीवैष्णवाचार्य से श्रीसम्प्रदाय के नियमानुसार दीक्षा ले अपने आश्रम को लौट गये।

आश्रम में लौटकर उन्होंने कुटी के बाहर आना छोड़ दिया। साल में एक दिन रथयात्रा के दिन वे निकलने लगे और कुछ दूर तक रथ के साथ जाते थे। किन्तु कुछ दिनों बाद रथ के साथ जाना भी उन्होंने छोड़ दिया। कुटी के द्वार पर बैठ कर, वे रथ के दर्शन करने लगे। दूर दूर से जो लोग उनके दर्शन करने और उपदेश सुनने आते, उनसे मिलने के लिये उन्होंने एकादशी का दिन निर्दिष्ट कर रखा था।

बहुत दिनों तक सूर्यालोक-विहीन और निर्वात स्थान में रहते रहते, उनका शरीर पुष्प की तरह कोमल एवं उनके

शरीर का सुन्दर सफेद रंग होगया था । कई एक वर्ष बाद वे एक बार कुम्भपर्व पर, त्रिवेणी-स्नानार्थ रेल में बैठ के प्रयाग आये । यहाँ त्रिवेणी तट पर सामान्य भौपड़ी में कई एक दिनों तक रहने के कारण प्रखर सूर्य की किरणों के उत्ताप से और तीव्र हिम-वायु के स्पर्श से उनके शरीर का चमड़ा उड़ने लगा और खाँसी के साथ साथ उनकी क्रांती में सर्दी घुस जाने से उनका ऐसा स्वरभङ्ग हुआ कि, कुछ कहना ही नहीं । प्रतिदिन उन्हें ज्वर आने लगा और साथ ही उनके कोमल शरीर का शुभ्र चर्म उड़ने लगा । उनके आश्रम के पास बसनेवाले कई एक परिचित दरिद्र ब्राह्मणों ने औषध सेवन के लिये अनुरोध किया । पौहारी बाबा ने पहले तो उनकी बात हँसी, मे उड़ा दी; किन्तु अन्त में जब वे न मानें, तब उन्होंने उन ब्राह्मणों से कहा—“अच्छा आप लोग जो औषध दास को खिलाना चाहते हैं उसे लेआइये ।” फिर यह भी कहा—“क्या आप लोग दास को केवल औषधि ही खिला देंगे पथ्य न देंगे ?” ब्राह्मणों ने मिल कर, कुछ पैसे जोड़ बटोर कर, पथ्य के लिये उत्तम दूध के साथ अन्य पदार्थ और औषधि लाकर उनके सामने रखी । जो सामान्य दूध और बिल्वपत्र को छोड़ अन्य कोई वस्तु नहीं खाते थे, वे जब स्वयं भोजन करने की इच्छा प्रकट करें ; तब क्या उन्हें सामान्य पदार्थ आहारार्थ न दिया जाय ? इसीसे ब्राह्मणों ने भीख माँग कर पैसे एकत्र किये और उत्तम उत्तम खाद्य पदार्थ पौहारी बाबा के सामने लाकर रख दिये । पौहारी बाबा ने उन सब पदार्थों को एक कपड़े के टुकड़े में बाँधा और उस पोटरी को ले वे कहीं चल दिये । पौहारी बाबा उन्हें खाते हैं या उनका क्या करते हैं, यह देखने के लिये उन ब्राह्मणों में से दो चार ब्राह्मण, चुपचाप उनके पीछे हो लिये । उन्होंने देखा कि,

पौहारी बाबा ने वे सब पदार्थ और औषधि गङ्गाजल में डाल दीं और वे एक निर्जन स्थान की ओर चल दिये। पौहारी बाबा का यह अन्याय कार्य देख, उन ब्राह्मणों के मन में बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ और वे मन ही मन कहने लगे—“इस प्रकार हम गरीबों के पैसे नष्ट करने की क्या आवश्यकता थी?” दूसरे दिन पौहारी बाबा जब अपनी भोपड़ी में आये; तब सब लोग उनके उस कार्य की निन्दा करने लगे। निन्दा सुन कर पौहारी बाबा ने अति विनीत हो और हाथ जोड़ कर कहा—“बाबा ! आप लोग क्यों इस दास पर अप्रसन्न हैं। दास से कोई अपराध तो नहीं बन पड़ा। आप लोगों ने जो पथ्य और औषधि जिस रोग के लिये दी थीं, दास ने उन सब को उस रोग ही को दे दिया। देखो न दास अब बिल्कुल अच्छा हो गया। दास के शरीर में कोई रोग नहीं रहा।” ब्राह्मणों को देख कर आश्चर्य हुआ। पौहारी बाबा के शरीर में कोई रोग नहीं रह गया था। विषम स्वरभङ्ग रोग भी दूर हो गया था। वे प्रयाग से पैदल चल कर, प्रेमपुर गये और अपनी जननी के दर्शन किये। इस बार वे घर में नहीं गये। घर के पास एक उद्यान में एक दिवस रह कर, अपने आश्रम को चले गये।

साधुसेवा और सदावर्त

पौहारी बाबा ने बाल्यावस्था से जो साधु संन्यासी और अतिथि-सेवा का व्रत ग्रहण किया था, उसे आजन्म पालन किया। उनकी यही आज्ञा थी कि, जो कोई आश्रम में आवे वह बिना खाये न लौटे। इसका भार उन्होंने अपने शिष्य नन्दकुमार को दे रखा

था। इसके पन्द्रह वर्ष बाद पौहारी बाबा के बड़े भाई गङ्गाराम ने इस काम को अपने ऊपर ले लिया।

लक्ष्मीनारायण के समय में ग्राम के किसान प्रत्येक हल पीछे पाँच सेर के हिसाब से अन्न प्रत्येक अग्रहन और चैत्र में आश्रम में दे जाया करते थे। ग्राम के और ज़मींदार भी आर्थिक सहायता दिया करते थे। किन्तु उस समय सदावर्त नहीं था। लक्ष्मीनारायण वर्ष के अन्त में वह सारा नाज और रुपया दीन दुखियों को बाँट दिया करते थे। किन्तु पौहारी बाबा इस प्रकार जितना अन्न एवं द्रव्य पाते उसे जमा न कर, सदावर्त द्वारा बटवा दिया करते थे। इनके समय में गङ्गा आश्रम के नीचे से हट कर, उस पार चली गयी थी। आश्रम के सामने जो भूमि थी, उसमें पौहारी बाबा के कार्याध्यक्ष ने खेती करवाना आरम्भ कर दिया था। इस प्रकार अन्न प्राप्त होने पर, सदावर्त का काम निर्विघ्न सम्पन्न हुआ करता था।

पौहारी बाबा के सदावर्त की देश देशान्तरों में धूम मच गयी। धीरे धीरे उनके आश्रम पर, साधु संन्यासी एवं राहगीरों की भीड़ बढ़ने लगी। बहुत लोगों के आने जाने से पौहारी बाबा के योगाभ्यास में व्याघात पड़ने लगा, इस लिये आश्रम से कुछ दूर हट कर, कार्याध्यक्ष ने कई एक पर्णकुटी बनवा दीं। एक दिन एक बड़ा उन्मत्त पुरुष आश्रम में आया। वह पौहारी बाबा के मारने के लिये हाथ में डंडा ले और गालियाँ बकता हुआ, गुफा के द्वार से हो कर भीतर जाने लगा। आश्रम के लोग उसे पकड़ कर, आश्रम के बाहर करने लगे। पागल बड़ी ज़ोर से चिल्लाने लगा। पौहारी बाबा उस समय होम कर रहे थे। जब वे होम कर चुके, तब बाहिर निकल कर उन्होंने उस उन्मत्त को अपने पास बुलाया। वह घोर उन्मत्त कहीं कोई उत्पात न करे आ० म०—७

इस डर से कई आदमी हाथ पकड़ कर उसे पौहारी बाबा के पास ले गये। पौहारी बाबा ने कुछ क्षण लों उस पागल के नेत्रों की ओर स्थिर दृष्टि से देखा। फिर वे बोले—इसे छोड़ दो, यह बड़ा भला आदमी है। उसी समय से उसका पागलपन छूट गया। वह कभी पागल था, यह भी वह भूल गया।

इस घटना के कुछ दिनों बाद पौहारी बाबा के दीक्षागुरु के आश्रम से संन्यास-वेश-धारी एक मनुष्य उनके आश्रम में पहुँचा और कहने लगा—“तुम न तो साधु हो और न योगी हो तभी तुम अब तक इस माया को नहीं छोड़ सके।” तुम अब भी इस माया में क्यों लिप्त रहते हो ? तुम्हारे ठाकुर जी के शरीर पर जो आभूषण रहते हैं, उनकी क्या आवश्यकता है ? उन्हें तुम हमें दे दो। उस संन्यासी की बात सुन पौहारी बाबा ने कहा—“बाबा ! यदि उन आभूषणों को लेने की तुम्हारी इच्छा है, तो तुम उन्हें ले लो।” संन्यासी ने इस पर फिर कहा—“तुम इस धन, रत्न और शस्त्रादि की माया क्यों नहीं छोड़ देते ? मैं कहता हूँ तुम इस स्थान को अभी छोड़ कर चले जाओ।” संन्यासी की इस बात पर पौहारी बाबा ने कहा—“यदि मैं अभी इस आश्रम से चला जाऊँगा तो आपकी मनेभिलाषा पूरी न होगी। क्योंकि मेरे चले जाने में आश्रम के लोग बाधा डालेंगे। अतएव रात होने दीजिये।” जब रात हुई, तब पौहारी बाबा ने कुटी के द्वार को बंद कर चाबी संन्यासी को दी और आश्रम परित्याग कर वे वहाँ से चल दिये। सबैरा होते ही जब आश्रम के लोगों ने देखा कि, पौहारी बाबा की कुटी में ताला बंद है तब सब लोग विस्मित हुए और उस संन्यासी की सारी नटखटी जान उसे मारने को उद्यत हुए। संन्यासी ने सोचा था कि, आश्रम पर मैं अपना

अधिकार जमा लूँगा ; किन्तु मार के डर से वह आश्रम छोड़ कर वहाँ से तुरन्त भागा ।

उधर बात की बात में पौहारी बाबा के आश्रम-त्याग का संवाद चारों ओर फैल गया । बहुत से लोग उन्हें हूँढ़ने के लिये निकले ; किन्तु किसी को उनका पता न लगा । लगभग एक वर्ष बाद, बहुत खोजने पर आजमगढ़-निवासी रामाचारी जी उन्हें ब्रह्मपुर से आश्रम में ले आये । पौहारी बाबा ने आश्रम परित्याग कर जगन्नाथ जी की ओर प्रस्थान किया । वे रास्ते में बीमार हो जाने के कारण पुरी नहीं पहुँच पाये । वे मुर्शिदाबाद ज़िले के अन्तर्गत ब्रह्मपुर ग्राम में टिक गये । एक साधु-हृदय बङ्गाली ने गङ्गातट पर उनके लिये एक कुटी बनवा दी और वह मन लगा कर उनकी सेवा करने लगा । पौहारी बाबा उसी कुटी में रह कर साधन भजन किया करते थे ।

सन् १८८८ ई० के आषाढ़ मास में एक सुवृहत् यज्ञ की तैयारियाँ हुईं । ग्राम के भक्त ज़मींदार एवं नगरवासियों ने बहुत सा धी, आटा, चीनी तथा द्रव्य देकर सहायता की । भारतवर्ष के प्रधान प्रधान नगरों के अनेक साधु संन्यासी परमहंस और दरिद्र लोग उस यज्ञ में गये । जिसने जो चाहा, तदुपयुक्त रूप से, यज्ञ पूर्वक उसकी सेवा की गयी । यह यज्ञ लगभग एक मास तक होता रहा ।

निर्वाण

एक दिन पौहारी बाबा रात के समय गङ्गास्नान करके निर्जन नदीकूल पर योगक्रिया करते थे । दैवयोग से योग क्रिया में व्याघात पड़ा । योगक्रिया में व्याघात पड़ते ही उनका शरीर बिगड़ा । उनके शरीर में क्या कष्ट है यह जानने के लिये

कई बार उनसे लोगों ने प्रश्न किया, किन्तु उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया ।

बङ्गला सन् १३०४ के ज्येष्ठ मास की कृष्णा प्रतिपदा को प्रातःकाल पौहारी बाबा के भाई और भतीजे बदरी नारायण और बनारस-संस्कृत-कालेज के अध्यापक भागवताचारी, पण्डित जनार्दन आदि पाँच ऋ. आदमी आश्रम में उपस्थित थे । उन्होंने देखा कि, आश्रम से धुआँ निकल रहा है । उन्होंने सोचा कि, यह होम का धुआँ है । पीछे से जब उन्होंने देखा कि, सारे आश्रम में आग लगी है, तब वे लोग स्थिर न रह सके । वे चिल्ला कर और हाथ जोड़ कर कहने लगे—“महाराज ! अग्नि बुझाने की आज्ञा दीजिये ।” इस समय पौहारी बाबा ने धूम कर, क्या सङ्केत किया यह बदरीनारायण की समझ में न आया । बदरीनारायण का कोलाहल सुन पौहारी बाबा के प्रिय सेवक भृगुनाथ एवं अन्य दो एक और आदमी उस कुटी के ऊपर चढ़े । वहाँ उन्होंने देखा कि तुरन्त स्नान किये हुए बाबा जी की भीगी जटा उनकी पीठ पर पड़ी हुई हैं । तप्तकाञ्चननिभ अङ्गों में घी लगा हुआ है । वे कुशरज्जु युक्त कोपीन पहने हुए हैं । वे होमकुण्ड के सामने कम्बल के आसन पर, उत्तर को मुख किये हुए, पद्मासन मारे ध्यानमग्न बैठे हुए हैं और उनकी पवित्र देह को अग्निशिखा भस्म कर रही है । हाथ टेकने की लकड़ी पास पड़ी हुई है । चारों ओर घी से भरे कलसे, कपूर, धूप आदि होम के द्रव्य रखे हैं । बदरीनारायण, भृगु आदि लोग यह लीला देख निर्वाक होकर खड़े रहे । देखते देखते महायोगी का ब्रह्मरन्ध्र विदीर्ण हो गया ।

गुरु गोविन्दसिंह

✻✻✻✻✻ ख सम्प्रदाय के दसवें गुरु का नाम गुरु गोविन्द-
 सिंह है। गुरु तेगबहादुर जब अपनी धर्मपत्नी को
 पटने में छोड़ कर आसाम की ओर चले गये,
 तब पूस बदी १३णी संवत् १७२३ में, पटने
 में गुरुगोविन्दसिंह जी का जन्म हुआ। पाँच वर्ष तक उनका पालन
 पोषण बड़े लाड़ चाव से होता रहा। लकपन में वे खेल भी ऐसे
 खेलते, जिनसे उनके शरीर में पूर्वजन्म के त्रियोचित संस्कार
 का परिचय मिलता था। उन्हें खेलते समय, योद्धाओं का अनुकरण
 करना, राजसी द्वार की नगल उतारना आदि खेल ही अति
 प्रिय लगते थे। अपने साथी संगियों के प्रति वे बहुत प्रीतियुक्त
 व्यवहार करते थे।

जेठ बदी ३० संवत् १७३० में हरजस नामक एक खत्री
 की कन्या के साथ उनका विवाह हुआ। इस घटना के दो वर्ष
 बाद उनके पिता तेगबहादुर नौ वर्ष के पुत्र के हाथ में, सब
 काम काज सौंप कर, दिल्ली गये और वहाँ धर्म के लिये आत्म-
 समर्पण किया।

जब गोविन्दसिंह ने अपने पिता की मृत्यु का समाचार
 सुना, तब शोकाकुल न हो कर, उनके शरीर में एक प्रकार की
 स्फूर्ति उत्पन्न हुई। उन्होंने खड़े हो कर उच्चैः स्वर से नीचे
 लिखा पद्य पढ़ा:—

“साधन हेतु अत्त जिन करी।

सीसदिया पर सी न उचरी ॥

धर्म हेतु साका जिन किया ।
सीस दिया पर धर्म न दिया ॥”

यह पढ़ते पढ़ते उनके शरीर में आवेग भर गया, नेत्र रक्त-वर्ण हो गये, शरीर कांपने लगा । उसी समय गुरु गोविन्दसिंह ने यह प्रतिज्ञा की—“यदि मैं गुरु तेगबहादुर के औरस से उत्पन्न हूँ, तो औरङ्गजेब से निश्चय ही इस अन्याचार का बदला लूँगा ।” तदनन्तर उन्होंने अपने पिता का और्द्धदेहिक कृत्य किया और गद्दी पर बैठते ही, वे युद्ध की सामग्री एकत्र करने लगे । उन्होंने अपने सब शिष्यों को आज्ञा दी कि, अच्छे अच्छे घोड़े एवं अस्त्र शस्त्र संग्रह करो । साथ ही वे स्वयं युद्धोचित अभ्यास बढ़ा कर, अपने अनुयायियों को युद्धशिक्षा देने लगे ।

गुरु तेगबहादुर के आजीर्षाद से आसाम के राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ था । जब राजा मर गये, तब वह गद्दी पर बैठा और संवत् १७३३ में वह गुरु गोविन्दसिंह के दर्शन करने के लिये आया । उसने गोविन्दसिंह को भेंट में बहुमूल्य रत्न, अस्त्र, शस्त्र और बहुत से रुपये दिये । इनके अतिरिक्त पाँच अरबी घोड़े और एक हाथी भी भेंट किया । हाथी को किसी ने बहुत अच्छी शिक्षा दी थी । वह सूँड़ में दबा कर, रात के समय मशाल दिखलाता, चँवर डुलाता, तलवार फेंकता, तीर उठा लाता, जूते भाड़ता और भाड़ी उठाकर जल देता था । जब आसाम-नरेश बिदा होने लगे, तब गोविन्दसिंह ने उनसे अकेले में कहा—“राजन् ! तुम उस क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुए हो, जिसे श्रीरामचन्द्र, युधिष्ठिर, भीष्म आदि महात्मा पवित्र कर चुके हैं । अतः तुम्हें तुम्हारा कर्तव्य बतलाने की आवश्यकता नहीं है ।”

इस घटना के पाँच वर्ष बाद काबुलप्रवासी पृनीचन्द नामक सिक्ख उनसे मिलने गया। उसने पश्मीने के बने अनेक तंबू, कनात और विपुल धन भेंट किया। गुरु गोविन्दसिंह ने उसे भी क्षत्रियोचित उपदेश देकर, उत्साहित किया। यही क्यों, उनसे मिलने जो कोई जाता, उसीको वे उत्साहवर्द्धक उपदेश देते और धर्म के लिये प्राणोत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा करा लिया करते थे।

इतने में शिकारपुर-वासी एक खत्री ने गोविन्दसिंह को दस हजार मोहरें भेंट कीं और उसके साथियों ने भी विपुल धन भेंट में दिया। इस प्रकार उनके धनी शिष्यों और हितैषियों की उदारता से उनका धनागार भर गया।

इतने में एक घटना हुई जिससे गोविन्दसिंह की वीरता का परिचय लोगों को मिला। विलासपुर-नरेश भीमचन्द ने आसाम के राजा का दिया हुआ हाथी गोविन्दसिंह से लेना चाहा और उसके बदले में उन्होंने एक लाख मोहरें भी देनी चाहीं; पर गोविन्दसिंह ने उसे देना स्वीकार न किया। इस पर भीमचन्द अप्रसन्न तो हुआ; पर कुत्र बाला नहीं और अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। इतने में उसके यहाँ विवाहोत्सव उपस्थित हुआ। बारात में उसने वही हाथी मँगवा भेजा। पर तब भी गोविन्दसिंह ने हाथी न भेजा। इस पर वह स्वयं उनके पास गया। गोविन्दसिंह ने उसका उचित रीति से आदर सत्कार किया। वे उसे अपने साथ आखेट में लिवा लेगये। मार्ग में भीमचन्द ने उस हाथी की बात निकाली, पर दृढ़-प्रतिज्ञ गोविन्दसिंह ने हाथी का देना तब भी अस्वीकार किया। तब भीमचन्द आपे में न रहा और आवेष में भर गोविन्दसिंह से यद्वा तद्वा कहने लगा और

बोला—“अरे शठ ! क्या तुझे मेरा तिल भर भी डर नहीं है। देख, अब मैं बलपूर्वक हाथी तुझसे लेता हूँ कि, नहीं। याद रख, अब तू मेरी अमलदारी में न रहने पावेगा।” यह सुन गोविन्दसिंह ने कहा—“अभिमान चाहे जितना दिखला ले, पर तुम्हारा किया कुछ हो नहीं सकता। होगा वह जो अकाल पुरुष का सङ्कल्प होगा।”

यह कड़ाकड़ी की बातचीत हो चुकने के बाद, संवत् १७४७ के माघ महीने में, राजा भीमचन्द ने गोविन्दसिंह पर जोर जोर से चढ़ाई की; किन्तु वीर सिक्खों की मार के सामने राजा भीमचन्द न टहर सके। राजा भीमचन्द का शत्रु राजा मेदनी-प्रकाश जो नाहन का अधीश्वर था, गुरु गोविन्दसिंह से मिला और बहुत सा धन भेंट में देकर उन्हें अपने साथ लिवा ले गया। मेदनीप्रकाश को आखेट का बड़ा व्यसन था। गोविन्दसिंह भी आखेट के रसिक थे। राजा इनकी वीरता देख विस्मित हो जाता था। क्योंकि वे पैदल सिंह को मारते थे।

राजा मेदनीप्रकाश की अमलदारी में गुरु गोविन्दसिंह ने संवत् १७४६ में एक ग्राम बसाया; जिसका नाम पाँवटा रखा और अपने घरवालों को बुला कर, वे उसी ग्राम में रहने लगे। इसी ग्राम में बुद्धशाह नाम का एक फकीर इनसे मिल कर और धर्म सम्बन्धी चर्चा सुन कर, बहुत प्रसन्न हुआ। आसाम का राजा दूसरी बार उनसे आकर मिला और वे नाव पर चढ़ कर, बीच जमुना में उससे मिले और समय पड़ने पर सहायता देने का उससे वचन लिया। इतने में बुद्धशाह के अनुरोध से गोविन्दसिंह ने औरंगज़ेब के पाँच विद्रोही मुगलों को अपने यहाँ आश्रय दिया और उन्हें नौकर रख लिया।

गोविन्दसिंह कार्तिक संवत् १७४६ में मेचनकपाल के मेले में गये। वहाँ धर्म एवं वीरोचित उपदेश दे लोगों में एक प्रकार की स्फूर्ति उत्पन्न की। घर लौट कर, देहरादून निवासी एक रईस की धर्मपत्नी का उन्हें संदेसा मिला। देहरादून के सिक्खों ने उसके पति को जीते ही मृतक बतला कर, भस्म कर डाला था। अचला का संदेसा पहुँचते ही गोविन्दसिंह सौ अश्वारोही सैनिकों को लिये हुए वहाँ गये और अपराधियों को उचित दण्ड दे कर, विधवा की सम्पत्ति की समुचित व्यवस्था कर दी और वहाँ से लौट कर घर पहुँचे।

गुरु गोविन्दसिंह जी बड़े विद्यारसिक थे। उन्होंने कुपड़ सिक्ख जाति में विद्याप्रचार कराने के अभिप्राय से अपने पाँच शिष्यों को रघुनाथ परिडत के पास संस्कृतभ्यास के लिये भेजा। रघुनाथ ने जब उन्हें शूद्र बतला कर, वेदाध्ययनादि का अनधिकारी बतलाया; तब गोविन्दसिंह ने उन पाँचों को ब्रह्मचारी बना कर काशी भेजा। वे चैतन्य मठ में रह कर, विद्या पढ़ने लगे और संस्कृत के अच्छे विद्वान् हो कर, संवत् १७५२ में अपने घरों को लौट गये। इन्हीं लोगों से गुरु गोविन्द सिंह ने “भागवत” “भाज प्रबन्धसार” और कई एक उपनिषदों का भाषान्तर करवाया था।

इतने में भीमचन्द के लड़के का विवाह श्रीनगर के राजा की कुमारी के साथ पक्का हुआ। श्रीनगर-नरेश का दीवान गुरु गोविन्द सिंह का मित्र था। इस लिये उन्होंने दीवान नन्दचन्द के हाथ टीका भेजा और उनके साथ पाँच सौ घुड़सवार कर दिये। भीमचन्द को यह बात बुरी लगी। उसने श्रीनगर-नरेश को धमकी दी और टीका न लेने का अनुरोध किया। श्रीनगर-नरेश ने अगत्या टीका लेना अस्वीकृत किया, तब

तो नन्दचन्द को बड़ा क्रोध उपजा। उसने अपने साथियों से विवाह की सारी सामग्री लुटवाली और वहाँ से चल दिया।

इससे श्रीनगर-नरेश और भीमचन्द बहुत क्रुद्ध हुए। उन दोनों ने बरात में आमंत्रित राजाओं को साथ लेकर दस हजार सिपाहियों की सेना सहित, गोविन्दसिंह पर आक्रमण किया। गोविन्दसिंह दो हजार सिक्खों सहित भिनगानी ग्राम में जा डटे। जमुना और गिरी नदी के बीच घमासान युद्ध हुआ। रणक्षेत्र ही में गोविन्दसिंह के एक हजार सिक्ख योद्धा, विद्रोही हो गये; किन्तु उसी समय बुद्धशाह दो सहस्र योद्धा ले, गोविन्दसिंह की सहायता को जा पहुँचा। अब कहना ही क्या था। नवीन उत्साह के साथ सिक्खों ने शत्रुसेना का संहार करना आरम्भ कर दिया। शत्रुसेना भाग निकली। सिक्खों ने बहुत दूर तक उसे खदेड़ा, और बहुत सा माल असबाब उनके हाथ लगा। माता के आज्ञानुसार गोविन्दसिंह पाँवटा ग्राम को छोड़, अनन्दपुर नामक ग्राम में जा बसे। वहीं पर एक सिक्ख खत्री की कन्या के साथ उन्होंने दूसरा विवाह किया। पिछली बार के विजयलाभ से उनका उत्साह बहुत बढ़ गया था और उन्होंने आनन्दगढ़, लोहगढ़, फूलगढ़ आदि कई बड़े दृढ़दुर्ग बनवाना आरम्भ किये और अब धर्मोपदेश से वे रजोगुणविशिष्ट पुरुष हो गये। युद्ध के समय जो विद्रोही बन गये थे, उन्हें गोविन्दसिंह ने वार दण्ड दिया। डर कर भीमचन्द ने गोविन्दसिंह से सन्धि कर ली।

कुछ दिनों बाद गोलकुण्ड के युद्ध से अवकाश पा कर, औरंगजेब ने विद्रोही पहाड़ी राजाओं का शासन करने के लिये और उनसे कर वसूल करने की सेना भेजी। पहाड़ी

नरेशों ने गोविन्दसिंह को पाँच सहस्र रुपये देना स्वीकार कर सहायता की प्रार्थना की। गोविन्दसिंह ने पाँच सौ सिक्ख घुड़सवार भेज दिये। सिक्खों ने बड़ी वीरता के साथ युद्ध किया और मुगलसेना को हार कर भाग जाना पड़ा। पर राजाओं के नीच कर्मचारी मुसलमानों से मिल गये इससे भागी हुई मुसलमानी सेना फिर लड़ने लगी। तब गुरु गोविन्दसिंह स्वयं हाथ में तलवार ले रणक्षेत्र में अवतीर्ण हुए और मुगलसेना को मार कर भगा दिया। अन्त में सिक्ख जीते और आनन्द मनाते घर लौट गये।

तदनन्तर रुहीमख़ाँ ने गोविन्दसिंह पर आक्रमण किया। पर बरसात होने के कारण उसे पराजित हाकर भाग जाना पड़ा। अनन्तर रुहीमख़ाँ के पिता दिलहीरख़ाँ ने दस सहस्र योद्धाओं के साथ अपने पुत्र को पहाड़ी नरेशों के विरुद्ध युद्ध करने के लिये भेजा। इस बार भी गोविन्दसिंह की तलवार के सामने यवन न टहर सके।

तब खिसिया कर औरंगज़ेब ने अपने बेटे मुअज़्ज़मशाह को पहाड़ी नरेशों को नष्ट करने के लिये एक बड़ी सेना सहित भेजा। उसने पहाड़ी राजाओं को सिक्खों सहित परास्त किया। तब अन्य उपाय न देख रात को सोते हुए मुगल योद्धाओं पर सिक्खों ने झपा मारा। अचानक आक्रमण देख मुगल सेना हक्का बक्का हो गयी। सिक्खों ने सहस्रों मुगलों को मार डाला। शाहज़ादा मुअज़्ज़म बचे हुए साथियों को ले कर भागा और बीस कोस के अन्तर पर शिविर स्थापित किया। फिर मुंशी नन्दलाल के द्वारा मुअज़्ज़म ने गोविन्दसिंह से सन्धि कर ली।

कुछ ब्राह्मणों के अनुरोध से गोविन्दसिंह ने सप्तशती दुर्गा का पुरश्चरण करवाया । पारायण के बाद हवन हुआ । इस पुरश्चरण में एक लाख रुपये उठे । पूर्णाहुति देने पर बड़ी ऊँची लो उठी । दूर दूर के लोगों ने समझा देवी प्रकट हुई । जब लोगों ने उनसे पूछा कि, “महाराज दुर्गा कहाँ है ?” तब वे अपनी तलवार दिखा कर कहते, ‘सर्वसंहारकारिणी दुर्गा’ यही है । मूढ़ लोगों ने समझ लिया कि, दुर्गा ने प्रसन्न हो कर गोविन्दसिंह को यह तलवार दी है ।

अनन्तर गोविन्दसिंह ने एक वर्ष तक एक काठरी में बैठ कर, ईश्वराराधन किया । एक वर्ष के बाद जब वे काठरी से निकले, तब एक द्वार किया, जिसमें दूर दूर के सिक्ख आकर उपस्थित हुए । जब सब लोग बैठ गये ; तब गोविन्दसिंह ने खड़े हो कर, कहा - “मेरे प्यारे भाइयो ! दुर्गा नित्य मुझसे मनुष्य की बलि माँगती है । क्या तुम इतने लोगों में कोई ऐसा है जो मेरे लिये अपना सीस दे ?” यह सुनते ही सब लोग कठपुतले की तरह चुपचाप जहाँ के तहाँ बैठ रहे । कुछ देर बाद लाहौरवासी दयाराम नामक एक खत्री ने अपना सीस देना चाहा । उस पर गुरु गोविन्दसिंह बहुत प्रसन्न हुए और उसे अपने साथ एक तंबू के भीतर ले गये । वह तंबू द्वार-घर के पीछे खड़ा था । उस तंबू में उन्होंने एक पक्की नाली द्वार-घर के बाहर तक बगवा रखी थी और उसमें पाँच बकरे बाँध रखे थे । उस खत्री को तो वे दूसरे डेरे में बिठा आये और उन बकरों में से एक का सिर काट कर उसका रक्त उस नाली में बहाया । फिर रक्त से भरी तलवार हाथ में ले वे दरबार में जा खड़े हुए । सामने नाली में रक्त-प्रवाह और रक्त से भरी गोविन्दसिंह की तलवार देख, उपस्थित

दरबारी डर गये। इतने में गोविन्दसिंह ने कड़क कर कहा, दुर्गा एक बलि से सन्तुष्ट नहीं हुई, अब वे मेरा या मेरे बदले किसी दूसरे का सीस चाहती हैं। कुछ देर सन्नाटा रहा। अनन्तर एक जाट ने आगे बढ़ कर अपना सीस देना स्वीकार किया। पहिले की तरह उसे भी गोविन्दसिंह ने दूसरे तंबू में बिठाया और दूसरे बकरे का सिर काट डाला। तीसरी बार एक कहार, चौथी बार एक गूजर, पाँचवी बार एक नापित आत्मबलि के लिये अग्रसर हुए और उनके साथ भी वही व्यवहार किया गया जो प्रथम एवं द्वितीय व्यक्ति के साथ किया गया था। दरबार में उपस्थित लोग यह कृत्य देख बड़े विस्मित हुए। अनेकों ने उन्हें वित्तिप्त समझा और वे उठ कर चल दिये।

अनन्तर गोविन्दसिंह ने स्नान कर, उन पाँचों को स्नान कराया और उत्तम वस्त्र पहना कर, वे उनके सहित दरबार में आये। यह चरित्र देख सब दर्शक पश्चात्ताप करने लगे। तदनन्तर गोविन्दसिंह ने खड़े हो कर कहा—“प्यारे भाइयो! नानक गुरु की परीक्षा में अकेला लहनासिंह कृतकार्य हुआ था, किन्तु अकालपुरुष की अनुकम्पा से मेरी कठिन परीक्षा में आज पाँच वीर उत्तीर्ण हुए हैं। आशा है अब वीर सिक्खधर्म की पताका देश भर में फहराने लगेगी।” यह कह कर दरबार बरखास्त किया।

अगले दिन फिर सिक्ख समारोह हुआ। गोविन्दसिंह ने एक गिलास में शर्बत पिया, बचा हुआ उन पाँचों को दिया। उनसे “वाह गुरु की फतह” कहला कर, गुरु ने उनसे कहा—“आज से तुम पाँचों सोढी खत्री हुए। कच्छ, केश, कड़ा और कटार इन चार वस्तुओं को अपने शरीर से कभी पृथक् न करना। स्त्रीसमागम न करना, बाल न बनवाना, तमाखू न

पीना और अन्य सब बुरे कामों से मुँह मोड़ कर, ईश्वर की उपासना करना । धर्म के लिये प्राण देने को सदा उद्यत रहना ।

उधर औरंगज़ेब ने कुपित हो कर पंजाब के सब सूबेदारों को लिख भेजा कि, तुम सब एकत्र हो कर, गोविन्दसिंह पर आक्रमण करो । आज्ञानुसार संवत् १७११ में मुगलों ने उन पर आक्रमण किया और आनन्दगढ़ का दुर्ग जा कर घेर लिया । सिक्खों ने दुर्ग का फाटक बंद कर, शत्रुसेना से युद्ध किया । पर जब दुर्ग के भीतर अन्न जल निबटा, तब सिक्खों को चिन्ता हुई । तिस पर भी उन्होंने युद्ध से मुँह न मोड़ा और एक एक मुट्ठी सूखे चने खा कर, वे बराबर शत्रु का सामना करते रहे । जब इस प्रकार सात दिन बीत गये और भूख के मारे सिक्ख-सेना मूर्च्छित होने लगी, तब यवनों ने उन्हें धोखा देने के लिये कहला भेजा कि, यदि तुम लोग दुर्ग छोड़ कर, चल दो तो हम यहाँ से सेना फेर लें । सिक्ख सैनिक तो उद्यत थे, पर गोविन्दसिंह ने उनसे कहा—यह मुसलमानों की झूल भरी चाल है । जब वे न मानें, तब गोविन्दसिंह ने खच्चरों पर ईंट पत्थरों से भरे सन्दूक आदि लादे और उन्हें दुर्ग के बाहर भेजा । यवन सेना ने उनमें धन भरा समझा उन्हें लूट लिया । तब गोविन्दसिंह ने अपने सैनिकों से कहा—“शत्रु के मन में कपट है । बाहर निकलते ही हम पर आक्रमण होगा ।” जब वे न मानें, तब गोविन्दसिंह ने सोच कर उनसे कहा—“अच्छा एक काम करो, हमें एक प्रतिज्ञा-पत्र लिख दो कि, हमारा तुम्हारा गुरु—शिष्य सम्बन्ध, आज से टूटा ।” बहुतों ने इस प्रतिज्ञापत्र पर स्वाक्षर कर दिये और वे दुर्ग छोड़ कर चले गये । दुर्ग में गोविन्दसिंह, उनके दो पुत्र और लगभग पचास सिक्ख घीर रह गये ।

अन्त में शत्रुसेना की दृष्टि बचा कर, बीस सिक्ख सवारों के साथ उन्होंने अपने दोनों पुत्रों और अपनी माता को दुर्ग से निकाल बाहर किया, फिर आप भी अपने शेष साथियों के साथ निकल कर चल दिये। गोविन्दसिंह तो निकल गये, पर उनकी माता की डाली और उनके दोनों पुत्रों को मुसलमानी सेना ने घेर लिया। डाली के रक्तक सिक्खों और मुगल सैनिकों में परस्पर मारकाट आरम्भ हो गयी। इस मारकाट में शत्रु सेना को व्यस्त देख, गोविन्दसिंह की माता की डाली को दो सिक्ख लेकर भाग गये और सरहिन्द में गोविन्दसिंह के दोनों पुत्रों समेत उनकी माता को कुल-पुरोहित के घर पहुँचा दिया। जो रक्तक डाली की रक्षा के लिये नियुक्त किये गये थे; वे शत्रुसेना से लड़ते भिड़ते मारे गये।

उधर गुरु साहब के कुलपुरोहित ने भय के मारे या अन्य किसी कारण से हो, गोविन्दसिंह की माता एवं उनके दोनों पुत्रों को सरहिन्द के यवन शासक को सौंप दिया। उनकी माता तो आत्महत्या कर स्वयं मरगयीं और उन दोनों सिंहशावकों को उस यवन ने मुसलमान बनाना चाहा। उस समय उन दोनों बालकों में से एक नौ वर्ष और दूसरा ग्यारह वर्ष का था। जब वे दोनों बालक उस यवन के सामने उपस्थित किये गये और उनसे मुसलमानी धर्म अङ्गीकृत करने का प्रस्ताव किया गया, तब उनमें जो ज्येष्ठ था, उसने झिड़क कर कहा “लानत है मुसलमानी धर्म पर, हम लोगों को मुसलमान होना स्वीकार नहीं।” छोटे भाई ने भी बड़े भाई का अनुसरण किया। बालकों का उत्तर सुन, यवन शासक ने उन्हें धमकाया और प्राणों का भय दिखलाया; किन्तु अल्पवयस्क, दृढ़प्रतिज्ञ दोनों बालक अपनी प्रतिज्ञा पर अटल अचल

रहे। यह देख उस शासक ने उन दोनों बालकों को दीवार में चुने जाने की आज्ञा दी। यह आज्ञा सुन कर धर्मवीर दोनों बालक तिल भर भी विचलित न हुए। दोनों बालक एक दूसरे के पास खड़े किये गये और उनके चारों ओर ईंटों की चिनाई आरम्भ हुई। पर वे धर्मवीर बालक अपने स्थान से एक पग भी इधर उधर न हुए और जहाँ के तहाँ ज्यों के त्यों खड़े रहे। जब दीवार उनकी कमर तक पहुँच गयी, तब फिर उनसे कहा गया कि, मुसलमानी-धर्म ग्रहण करो, इस पर उन अप्रवयस्क बालकों ने जो उत्तर दिया वह प्रत्येक धर्मनिष्ठ मनुष्य के लिये सदा स्मरण रखने योग्य और स्वर्णाक्षरों में लिखवा कर प्रत्येक पवित्र मन्दिर में सम्मान पूर्वक रखने योग्य है। उन्होंने कहा—“तेगबहादुर के पौत्र और गोविन्द-सिंह के पुत्र, धर्म के लिये प्राण देने से नहीं डरते। हमारी प्रतिज्ञा अनिवार्य है।” अनन्तर जब गर्दन तक चिनाई पहुँची; तब फिर उनसे कहा गया, किन्तु उन दोनों ने बड़ी घृणा के साथ, तिरस्कार करते हुए, यवनों को पूर्ववत् उत्तर दिया और वे अकालपुरुष तथा गुरु नानक का नामोच्चारण करते रहे। उनके मुख पर किसी प्रकार की उद्विग्नता के चिन्ह तक परिलक्षित नहीं होते थे।

उधर गोविन्दसिंह दुर्ग परित्याग कर अपने साथियों समेत चमकोड़ नामक ग्राम के एक पक्के घर में जा छिपे; किन्तु मुसलमानों ने वहाँ भी उनको जा घेरा। अन्य उपाय न देख उनके साथियों में से एक एक घीर घर से निकल युद्ध कर के प्राणवलि देने लगा। अन्त में गुरु के दो युवा बालक रह गये। उनमें से बड़े ने भी युद्ध करने की आज्ञा माँगी। गोविन्दसिंह ने उसे भी आज्ञा दी। वह भी मुसलमानी सेना-को मारता

काटता हुआ मारा गया। अनन्तर उसके छोटे भाई, जूझट ने बाहर निकलने की अनुमति माँगी और पिता से प्यास बुझाने के लिये जल माँगा; इस पर गोविन्दसिंह ने कहा—“जल तुम्हारे बड़े भाई के पास है।” यह सुन वह भी हाथ में तलवार ले रणक्षेत्र में निकला और चार पाँच मुगल सरदारों को धराशायी कर, स्वयं वीरगति को प्राप्त हुआ।

तदनन्तर वाणों द्वारा गोविन्दसिंह ने अनेक मुगलों का नाश किया। जब सन्ध्या हुई; तब अपने साथ थोड़े से सिक्ख वीरों को ले और अपना वेपभूषा अपनी सूरत के एक सिक्ख को धारण करा, उसे उस घर में छोड़ा और आप शत्रुओं की दृष्टि बचाते भेष बदल कर वन की ओर चल दिये। भूख प्यास से विकल, उधारे पैर, वे वन की एक सघन झाड़ी में जाकर छिप गये। वहाँ उन्हें दो पठान मिले। वे बड़े सज्जन थे और उन्होंने गोविन्दसिंह की अच्छे प्रकार सेवा शुश्रूषा की और उन्हें अपने घर में छिपाया। किन्तु बहुत दिनों तक वे न छिप सके और वहाँ भी मुसलमानों सेना द्वारा घेरे गये। तब मुसलमानी कपड़े पहन कर, वे वहाँ से भी भागे, पर भाग न सके और मुगल सैनिकों द्वारा पकड़े गये। उन पठानों ने मुगलसेनापति से कहा कि, ये सिक्खों के गुरु नहीं हैं, ये हमारे रिश्तेदार हैं। तब सेनापति ने उनको अपने साथ मुसलमानी खाना खिलाया और उनके मुसलमान होने में सन्देह रहित हो, उन्हें छोड़ दिया। इस प्रकार वहाँ से छुटकारा पा कर, गोविन्दसिंह अपने प्राण बचाते रायकोट पहुँचे। वहाँ के एक धनी ने उनको बड़े आदर के साथ अपने घर में आश्रय दिया। यहीं पर अनेक भागे हुए सिक्खों द्वारा, उन्होंने अपने दोनों निरावलम्ब पुत्रों के दीवाल में चुने जाने का दुःखदायी आ० म०—८

समाचार सुना। सुन कर वे शोकाकुल हुए और शाप दिया कि, “मुसलमानी राज्य खण्ड खण्ड हो जाय।” कुछ दिनों राजकोट में रह कर, वे दीना नामक ग्राम में पहुँचे। वहाँ उनका एक शिष्य था, जिसने उन्हें खामगढ़ नामक दुर्ग में ठहराया। इसी गढ़ में उन्हें गुरु हरगोविन्द जी के कई एक अस्त्र शस्त्र मिले। क्रमशः भागे हुए सिक्ख भी यहीं उनसे आ कर मिले। गोविन्दसिंह ने भाई दयासिंह के हाथ औरंगज़ेब के नाम एक पत्र लिख कर भेजा और उनके साथ पाँच सिक्ख कर दिये। उस पत्र में सरहिन्द के मुसलमान शासक की शिकायत लिखी थी और निस्सहाय बालकों के निष्ठुरता पूर्वक मारे जाने का हाल लिख कर, अपराधी को कठोर दण्ड दिये जाने की सलाह दी थी। इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी ऊँच नीच बातें लिखी थीं, किन्तु औरंगज़ेब ने उस पत्र पर कुछ भी ध्यान न दिया।

दीना में कुछ दिनों रह कर, गोविन्दसिंह ढलुषा नामक ग्राम में पहुँचे और वहाँ उन्होंने मुसलमानी परिच्छद भस्म कर डाले। ढलुषा से चल कर वे माँझा ग्राम में पहुँचे। इस ग्राम में बसनेवाले सिक्खों ने गोविन्दसिंह का बादशाह के विरुद्ध युद्ध रोपना अनुचित बतलाया। इन सिक्खों में वे ही प्रायः अधिक थे, जो गढ़ में अवरुद्ध होने पर लुट्ट प्राणों की ममता में पड़, प्रतिज्ञापत्र पर स्वाक्षर करके भाग आये थे। गोविन्द सिंह ने उन आक्षेप करने वाले सिक्खों को यह कह कर कि, “हम तुमसे सहायता माँगने नहीं आये” चुप कर दिया। पर इतने में उस प्रान्त में सिक्खों का बल बढ़ते देख, सरहिन्द के शासक ने मुसलमानी सेना को साथ ले, माँझा ग्राम में गोविन्दसिंह को घेर लिया। किन्तु माँझा ग्राम के सिक्खों ने जिनकी संख्या

वालीस से अधिक न थी, मुसलमानी सेना से घोर युद्ध किया। इतने में और भी भागे हुए सिक्ख वहाँ जा पहुँचे और मुसलमानी सेना को, अपने बहुत से वीरों को कटा कर और हार कर लौट आना पड़ा। माँझा के सिक्खों ने बड़ी वीरता के साथ युद्ध किया था, अतएव गुरु गोविन्दसिंह ने उनमें से मरे हुए सिक्खों के शव की धूल स्वयं कपड़े से झाड़ी और उनकी वीरता की बड़ी प्रशंसा की। माँझा के युद्ध में वहाँ वाले जो सिक्ख काम आये थे, उनमें एक घायल सिक्ख विषम रूप से आहत होने पर भी जीवित था। गुरु गोविन्दसिंह ने उसके क्षत विक्षत शरीर को अपने हाथ से पोंछ और उसके घावों की मल्लहमपट्टी कर के उससे पूछा—“तुम क्या चाहते हो?” उस गुरुभक्त सिक्ख ने कहा—“जिस प्रतिज्ञापत्र पर हम लोगों से आपने स्वाक्षर करवाये थे, उसे फाड़ डालिये।” गोविन्दसिंह ने तुरन्त उसे टुकड़े टुकड़े कर के फेंक दिया। इससे उस सिक्ख का मन शान्त हुआ और अकालपुरुष का नामोच्चारण करते हुए और गुरु गोविन्दसिंह की गोद में सिर रखे हुए, उसने इस नश्वर शरीर को त्यागा। तब गुरु गोविन्दसिंह ने उसके शव का अन्तिम संस्कार अपने हाथ से किया।

तदनन्तर न जाने क्यों मुसलमानों ने उनके साथ विरुद्धता करनी छोड़ दी। तब से वे निःशङ्क हो विचरने लगे। घूमते फिरते वे उदयपुर पहुँचे। उदयपुर के तत्कालीन महाराना ने उनका बड़ा सत्कार किया और बहुत सा धन भेंट किया। वहाँ से चल कर, वे पुष्कर गये। वहाँ अपने नाम का एक घाट बनवाया जो अब तक गोविन्दघाट के नाम से प्रसिद्ध है। पुष्कर ही में उन्होंने औरंगज़ेब की मृत्यु का संवाद सुना—जिसे सुन सिक्ख मण्डली में प्रसन्नता का सञ्चार हुआ।

तदनन्तर देहली के बादशाही घराने में औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद तख़्त पाने के लिये भाई भाई में गृहविच्छेद खड़ा हुआ । बहादुरशाह ने अपने भाई अज़ीम के विरुद्ध लड़ने के लिये गुरु गोविन्दसिंह से सहायता माँगी । गोविन्दसिंह ने दो हजार घुड़सवारों से उसकी सहायता की और मारे तीरों के अज़ीम को यमलोक भेज दिया । तब प्रसन्न हो कर, बहादुरशाह ने गोविन्दसिंह को बहुत सा धन दिया और खिलत पहनायी । तब से वे बहादुरशाह के साथ रहने लगे । एक बार दक्षिण प्रान्त में सुअर का आखेट करते समय इनसे और मुसलमानों से आपस में कुछ कहा सुनी होगयी और वे उनका साथ छोड़ बुरहानपुर में रह गये । बुरहानपुर ही में उन्हें माधवदास नामक एक जादूगर मिला, जिसे गोविन्दसिंह ने अपना शिष्य बना लिया । गोविन्दसिंह का घोर शत्रु औरंगज़ेब तो स्वयं मर ही गया था पर उनके पुत्रों को मारने वाला सरहिन्द का शासक अभी जीवित था । उससे बदला लेना उन्हें अभी शेष रह गया था । अतः गुरु ने माधवदास जादूगर को जिसका नाम उन्होंने बदल कर बंदा रख लिया था, सरहिन्द भेजा । चलते समय उसे अपनी तलवार और पाँच तीर दिये तथा सब स्थानों के सिक्खों को आज्ञापत्र लिख भेजा कि बंदे को सहायता करो । बंदे को सरहिन्द की ओर भेज कर, गोविन्दसिंह गोदावरी के तट पर भगवान की उपासना में लवलीन हुए, वहीं पर उन्होंने सरहिन्द के दुष्ट शासक के मारे जाने का संवाद सुना, जिसे सुन सारी सिक्ख मण्डली बहुत प्रसन्न हुई ।

युद्ध में एक पठान को गोविन्दसिंह ने मार डाला था । उसके दो पुत्र थे जो गोविन्दसिंह के शिष्य तो बन गये थे; पर बाप की मौत का बदला लेने का अवसर खोजते थे । एक दिन

सेते में उन्होंने कटार से गुरु पर आक्रमण किया। गुरु ने उठ कर भट्ट तलवार से उन दोनों के सिर उड़ा दिये। फिर उनके जो कटार का घाव लगा था, वह मलहमपट्टी करने पर अच्छा हो चला। इतने में दिल्लीश्वर के भेजे नौ डाढ़े के दो तोर गोविन्दसिंह के पास पहुँचे। वे इनने भारी थे कि लोगों ने उन्हें, बरौदा की सेने चाँदी की तोपों की तरह केवल दिखावटी समझा। तेजस्वी वीर गोविन्दसिंह से न रहा गया और उन्होंने उनमें से एक बाण चलाया। बाण के खींचने में बल लगाना पड़ा और परिणाम यह हुआ कि कटार के घाव के टाँके टूट गये और उससे रक्त बहने लगा। उसे रोकने के लिये बहुत यत्न किये गये पर रक्त किसी प्रकार न रुका। तब अपना अन्तिम समय देख, गोविन्दसिंह ने सिक्खों को एकत्र किया और उनसे कहा—“मैं अब जाता हूँ, आज से तुम ग्रन्थसाहब का अपना गुरु जानो।”

“होइ भाइ अकाल की मरजी
तबहि चला यह पन्थ।
सब सिक्खन को हुकुम है,
• गुरु मानियो ग्रन्थ।”

अनन्तर उन्होंने अपने पहनने के कपड़े मँगवाये। हाथ में तलवार और पीठ पर ढाल रखी। इस प्रकार वीरोचित वेष धारण कर, गुरु गोविन्दसिंह ने कार्तिक सुदी ५मी संवत् १७६५ को अकालपुरुष का नामोच्चारण करते हुए, प्राण विसर्जन किये।

सिक्ख सम्प्रदाय का ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। एक में तो गुरु नानक से लेकर गोविन्दसिंह के पिता गुरु तेगबहादुर

के समय तक का वृत्तान्त है और दूसरे में निज हाथ से लिखा हुआ गोविन्दसिंह का जीवन-वृत्तान्त है । सिक्ख सम्प्रदाय वाले ग्रन्थसाहब की प्रतिष्ठा वेदघत् करते हैं । सिक्ख जाति में अब तक बड़े बलवान् एवं धीर पुरुष उत्पन्न होते हैं और वे अंगरेज सरकार की पलटनों की शोभा समझे जाते हैं ।

ब्रह्मचारी लोकनाथ


 जूला सन् ११७१ या इसके कुछ आगे पीछे, पश्चिम बङ्गाल में ब्राह्मणकुल में लोकनाथ ब्रह्मचारी का जन्म हुआ था। दस वर्ष की अवस्था तक ग्राम पाठशाला में पढ़ने के अनन्तर वे संस्कृत पढ़ने के लिये गुरुगृह* में वास करने लगे। इसी समय उनका उपनयन संस्कार भी हुआ। लोकनाथ के शिक्षा एवं दीक्षा गुरु का नाम भगवानचन्द्र गंगूली था। भगवानचन्द्र षड्दर्शन के अद्वितीय पण्डित थे।

उपनयन संस्कार हो चुकने पर, लोकनाथ ने कई एक वर्ष तक गुरुगृह में रह कर, शास्त्राभ्यास कर के गुरु के साथ साथ जन्मभूमि को परित्याग किया। वेणीमाधव वन्योपाध्याय उनके सहयात्री हुए। भगवानचन्द्र अपने दोनों शिष्यों को लिये हुए कलकत्ते के कालीघाट पर पहुँचे। उस समय कालीघाट आजकल की तरह आबाद न था। उस समय वहाँ वन था। कालीघाट में रह कर, भगवानचन्द्र अपने दोनों शिष्यों से कठोर ब्रह्मचर्य व्रत धारण कराने लगे।

* प्राचीन काल में ब्राह्मण बालक गुरु के घर में रह कर, विद्याभ्यास किया करते थे, गुरुदेव अपने छात्रों को आहार देते, पहरने को वस्त्र देते और रहने के लिये स्थान देते थे। साराँश यह कि, निज सन्तानवत् वे छात्रों का पालन पोषण कर, उन्हें पढ़ाते लिखाते थे। इस समय भी कहीं कहीं ऐसा प्रबन्ध है, पर ऐसे स्थान अब इने गिने ही रह गये हैं।

लोग कहते हैं कि, लोकनाथ ने अपनी किसी बालसखी का स्मरण कर, ब्रह्मचर्यव्रत भङ्ग कर डाला था। भगवानचन्द्र को जब यह बात विदित हुई, तब वे अपने दोनों शिष्यों सहित स्वदेश लौट गये और जहाँ लोकनाथ की बालसखी रहती थी वहीं रहने लगे। भगवानचन्द्र को अनुसन्धान करने पर विदित हुआ कि, लोकनाथ की बालसखी छोटी अवस्था में विधवा होगयी और उसने अपना चरित्र कलुषित कर डाला है। सुयोग पाकर भगवानचन्द्र ने उस विधवा बालसखी से लोकनाथ की मनोवाञ्छा पूरी करने को कहा। उसने भगवानचन्द्र की बात मान ली। जब लोकनाथ को सम्भोग-वासना से विराग उत्पन्न हुआ, तब उनके गुरु ने शिष्यों सहित वह स्थान छोड़ दिया।

भगवान् उनसे नक्तव्रत, एकान्तरा, पञ्चाह, नवरात्रि, मासाह प्रभृति सारे व्रत एवं उद्यापन करा कर, मनःसंयम की शिक्षा देने लगे। बहुत दिनों तक इस प्रकार व्रतानुष्ठान करते करते दोनों ब्रह्मचारी जातिस्मर* होगये। वे कहने लगे—“मैं पूर्वजन्म में वर्धमान जिले के अन्तर्गत बेडूग्राम में सीतानाथ वन्द्योपाध्याय के नाम से प्रसिद्ध था”। परीक्षा करने पर जाना गया कि, उपरोक्त कथन ठीक है।

भगवानचन्द्र अपने दोनों शिष्यों को लिये हुए, नाना स्थानों में घूमते फिरते काशी पहुँचे। वहाँ उन्होंने मणिकर्णिका घाट पर अपना आसन जमाया और योग द्वारा शरीर त्यागा। मृत्युलोक छोड़ने के पूर्व, वे अपने दोनों शिष्यों को तैलिङ्ग स्वामी को सौंप गये।

जातिस्मर-पूर्वजन्म का वृत्तान्त जिसे स्मरण हो, वह जातिस्मर कहलाता है।

लोकनाथ और वेणीमाधव, स्वामी जी से योग सीख कर, उसका साधन करने के लिये हिमालय की किसी अनजानी गुफा में जा बैठे। वहाँ कई एक वर्ष तक कठिन परिश्रम कर, उन्होंने योगाभ्यास किया और वे सिद्ध हो गये। हिमालय से प्रस्थान कर वे पहले चन्द्रनाथ में पहुँचे। वेणीमाधव चन्द्रनाथ से कामाख्या की ओर चल दिये और लोकनाथ बारदी नामक ग्राम में पहुँचे। यह ग्राम ढाका जिले में मेगना नदी के तट पर है। वहाँ रहने के कारण लोकनाथ “बारदी ब्रह्मचारी” कहलाने लगे।

लोकनाथ जातिस्मर तो थे ही, योगाभ्यास द्वारा अब उनमें इतनी शक्ति और बढ़गयी थी कि, वे दूसरे के मनकी बात भी जान लिया करते थे और दूसरे के रोग अपने शरीर पर खींच लिया करते थे।

बङ्गला संन् १२६७ में लोकनाथ ब्रह्मचारी ने योग द्वारा देह त्यागी। उनके भक्तों में से बहुत से लोगों का यह कथन है कि, ब्रह्मचारीजी के देहत्याग के दो एक मास पहले, बारदी का एक आदमी क्षयरोग से विकल था। उसके कुटुम्ब वालों ने ब्रह्मचारी जी से उसका रोग अपने शरीर में ले लेने का अनुरोध किया। इस रोग का रोगी कभी बच नहीं सकता। ब्रह्मचारी जी ने वैसा करना अस्वीकार किया। पर जब उस रोगी के कुटुम्बी उनके बहुत पीछे पड़े और अनुनय विनय की; तब अगत्या ब्रह्मचारी जी को उनका कहना मानना पड़ा। रोगी का वह रोग जाता रहा- किन्तु उसकी आयु पूरी हो चुकी थी, अतः दो तीन मास में वह दूसरे रोग से पीड़ित हो मर गया।

उधर लोकनाथ ब्रह्मचारी के शरीर में क्षय रोग ने घुस कर उनके नाश का उपक्रम रचा। जब उन महापुरुष को यह बात विदित हुई कि, जीवित रहने से सिवाय कष्ट के सुख मिलना कठिन है, तब उन्होंने योगबल से शरीर ही छोड़ दिया।

भक्तवीर विजयकृष्ण गोस्वामी

न १८४७ ई० में श्रावणी पूर्णिमा के दिन नदिया ज़िले के उसतपुर नामक एक लुद्र
स ग्राम में भक्तवीर विजयकृष्ण गोस्वामी
का जन्म हुआ था । इनके पिता शान्तिपुर के निवासी थे । वे ठाकुर आनन्दकिशोर के औरसजात पुत्र थे ; किन्तु आनन्दकिशोर के भाई ने उन्हें अपना दत्तक पुत्र बना लिया था । लड़कपन में वे ग्राम-पाठशाला में पढ़े, पीछे वे कलकत्ते के संस्कृत कालेज में जाकर भर्ती हुए । क्रमशः विद्याभ्यास करते करते, वे काव्य की श्रेणी तक पहुँचे । काव्य की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर, उन्हें उपाधि मिली ; किन्तु वे उपाधि के प्रयासी न थे । इतने में उनका कोई मित्र डाक्टर के अभाव से किसी ग्राम में रोग से पीड़ित हुआ और मर गया । यह उनसे न सहा गया और वे संस्कृत-कालेज छोड़ कर मेडिकल कालेज में भर्ती हुए ।

बाल्यावस्था ही से वे बड़े धार्मिक थे । किसी भी स्थान में क्यों न हो—जहाँ कहीं धर्मचर्चा होती ; वहाँ वे जैसे होता वैसे अवश्य पहुँचते थे । आजकल की तरह उस समय बङ्गाल में ब्राह्मधर्म की लोग निन्दा नहीं करते थे । क्योंकि आरम्भ में ब्राह्मसमाज साधक-सम्प्रदाय-मात्र था । राजा राममोहन राय ने यह साधक-सम्प्रदाय प्रतिष्ठित किया था और देवेन्द्रनाथ ठाकुर इसके पोषक थे । इसी सम्प्रदाय के समाज-मन्दिर का नाम “आदि-ब्राह्मसमाज” है । आदि-ब्राह्मसमाज में वेद

और उपनिषदों का पाठ और उनकी व्याख्या सुनने के लिये अनेक धर्मप्रेमी जाया करते थे । गोस्वामी जी भी ब्राह्मधर्म का स्वाद लेने के लिये नियमित रूप से जाया करते थे । धीरे धीरे मेडिकल कालेज की परीक्षा में उत्तीर्ण हो, गोस्वामी जी ढाका गये और वहाँ रोगियों की, चिकित्सा करने लगे । वे धन कमाने को चिकित्सक नहीं बने थे, उनका उद्देश्य दीन दुखियों की विना फीस लिये उत्तम चिकित्सा करना था । अतः वे ढाका में वैसा ही करने लगे ।

जिन दिनों गोस्वामी जी ढाके में थे, उन्हीं दिनों केशवचन्द्र सेन इङ्ग्लैण्ड से लौट कर, ब्राह्मसमाज का नवीन सङ्गठन करने में प्रवृत्त हुए । ब्राह्मसमाजियों में परस्पर सौहार्द स्थापित हो, इस लिये उन्होंने भारत-आश्रम की स्थापना की । उस आश्रम में भिन्न भिन्न ब्राह्मसमाजियों के परिवार, हिन्दू परिवार की तरह रहने लगे । जिस जगह आज कल सिटी कालेज है, उसी जगह ऊपर के खण्ड में भारत-आश्रम था । केशवचन्द्र को ब्राह्मधर्म की नूतन सृष्टि करते सुन गोस्वामी जी, ढाका छोड़ कर सपरिवार भारत-आश्रम में जा बसे ।

उधर केशवचन्द्र-प्रचारित नये धर्म के आविर्भाव होते ही आदि-ब्राह्मसमाज में बड़ा हुल्लड़ मचा । केशवचन्द्र के तोष आकर्षण से खिंच कर बहुत से आदि ब्राह्मसमाजी उनके दल में जा मिले । केशवसेन के घर में नवागत भक्तों के मारे तिल धरने को भी स्थान न रहने लगा । केशवचन्द्र नगर छोड़ बेलघरिया के पास एक उद्यान में जाकर रहने लगे ; किन्तु वहाँ भी उनके प्राण न बचे । थोड़े ही दिनों में वह निर्जन उद्यान ब्राह्मसमाजी, स्त्री पुरुषों से भर गया । ब्राह्मसमाजी स्त्री पुरुष उन्हें ईश्वरावतार बतलाने लगे । इसी हिरिस में पड़, गोस्वामी

जी की सास और स्त्री, भारत-आश्रम से केशव-कानन में जाने को तयार हुई। जब वे गाड़ी में बैठ रही थीं; तब गोस्वामी जी को यह हाल मालूम हुआ। उन्होंने जाकर उन्हें रोकना चाहा। उस समय ब्राह्मसमाजी केशवसेन के नाम पर इतने उन्मत्त थे कि, गुसाई जी की सास ने कहा—“मैं गाड़ी से नहीं उतर सकती।” माता की बात सुन उसकी लड़की अर्थात् गुसाई जी की स्त्री ने कहा—“मैं पति को छोड़ने को तयार हूँ, किन्तु गुरु को नहीं छोड़ सकती।” इसीसे समझा जा सकता है कि, केशव बाबू का उस समय कैसा प्रभाव था।

केशव बाबू के प्रचारित धर्म के कारण ब्राह्मसमाज के दो भाग होगये। केशव बाबू का समाज भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज के नाम से विख्यात हुआ। इस ब्राह्म-धर्म-मन्दिर में पहले उपासना के दिन बहुत से ब्राह्मणों ने अपना अपना जनेऊ उतार कर, केशवचन्द्र के द्वारा प्रचारित नवीन धर्म की दीक्षा ग्रहण की। गुसाई जी ने भी उसी समय अपना यज्ञसूत्र उतार डाला था।

सन् १८७१ ई० में केशव बाबू की लोक-प्रियता सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर नीचे गिरने लगी। कूचविहार के महाराज की कन्या के साथ केशवचन्द्र का विवाह होते ही बड़ा भारी कोलाहल मचा और इसका फल यह हुआ कि, “भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज” के भी दो टुकड़े हो गये। केशव बाबू के विरोधी दल वालों ने अपने समाज का नाम “साधारण ब्राह्मसमाज” रख लिया। विजयकृष्ण गोस्वामी, शिवनाथ शास्त्री, द्वारकानाथ गङ्गोपाध्याय, प्रभृति कई एक मनुष्य इस समाज के नेता बन कर, नियमबद्ध कार्य करने लगे। ब्राह्मधर्म की उन्नति करने के लिये प्रचारक का कार्य विजयकृष्ण को

सौंपा गया । वे नारायणगंज, वरीसाल, ढाका आदि स्थानों में घूमने लगे ।

जिस समय वे ढाका में साधारण ब्राह्मणसमाज के नायक बन कर काम कर रहे थे ; उसी समय ढाका के बादरी नामक ग्राम में लोकनाथ ब्रह्मचारी पहुँचे । उनकी अलौकिक क्षमता देख, ढाका—निघासी स्तम्भित होगये । गोस्वामी जी पर भी उनकी क्षमता का प्रभाव पड़ा । गोस्वामी जी प्रायः नित्य ही धर्मसम्बन्धी विषयों की चर्चा सुनने के लिये ब्रह्मचारी जी के पास जाने लगे । धीरे धीरे गोस्वामी जी का सारा वृत्तान्त ब्रह्मचारी जी को विदित होगया ।

कुछ दिनों बाद ढाका से बाहिर जाकर गोस्वामी जी किसी उत्कट रोग से आक्रान्त होकर मरणापन्न दशा को प्राप्त हुए । इसका समाचार तार द्वारा ढाका में आया । गोस्वामी जी का एक प्रिय शिष्य बादरी गया और ब्रह्मचारी जी के चरण पकड़ कर गुरु की प्राणभिक्षा माँगी और बोला—“मेरी आयु द्वारा आप उनको बचाइये ।” शिष्य की प्रगाढ़ गुरुभक्ति देख कर, ब्रह्मचारी जी ने प्रसन्न हो कर कहा—“तुम ढाका लौट जाओ, मैं विजय-कृष्ण के पास जाता हूँ । परसों तुम्हें सँवाद मिल जायगा ।” ब्रह्मचारी जी का शरीर तो बादरी ही में विद्यमान रहा, पर विजयकृष्ण की शुश्रूषा करने वालों ने कई बार ब्रह्मचारी जी को गोस्वामी जी के सिरहाने बैठे हुए देखा । गोस्वामी जी के एक शिष्य ने एक मनुष्य से कहा कि गोस्वामी जी को डाक्टरों ने मरा समझ लिया था और उन्हें खाट से नीचे उतारने की आज्ञा दे दी थी ; किन्तु धरती पर ले लेने पर भी गोस्वामी जी फिर जीवित होगये । बहुतों का विश्वास तो यह है कि गोस्वामी जी मर गये थे, किन्तु ब्रह्मचारी जी

ने पहुँच कर उनका आत्मा फिर खींच कर उनके शरीर में डाल दिया । यह बात गोस्वामी जी के अनेक शिष्यों में प्रसिद्ध है ।

ब्रह्मचारी जी के साथ साक्षात्कार होते ही गोस्वामी जी के विचारों ने पलटा खाया । उन्होंने अपने आश्रम के बाहिर एक आम के वृक्ष के नीचे, साधना के लिये एक चबूतरा बनवाया और वहाँ बैठ कर वे हरिनाम का जप और सङ्कीर्तन करने लगे । जब इस प्रकार साधन करते कई वर्ष बीत गये ; तब वे तीर्थाटन के लिये घर से बाहिर निकले । वे अनेक तीर्थों में घूमते फिरे । जब घूमते फिरते वे वृन्दावन गये ; तब उनका भक्तिभाव देख कर, वहाँ के वैष्णवगण उनके प्रति बड़े अनुरक्त हो गये ।

निर्जन स्थान में बैठ कर, ईश्वरोपासन करना सहल है; क्योंकि वहाँ बैठ कर ध्यान करने वाले का ध्यान नहीं बटता और न शरीर के ऋः शत्रुओं को उत्तेजना देने वाली कोई वस्तु वहाँ रहती है । सुतरां ईश्वर के चरणों में सहज ही में मन जा लगता है । किन्तु इस प्रलोभनपूर्ण गृहस्थाश्रम में रह कर और निर्लिप्त भाव से सर्वदा ईश्वराराधन करना कितना कठिन काम है; यह बतलाने की आवश्यकता नहीं । हम सरीखे सभी साँसारिक लोग उसका नित्य ही अनुभव करते हैं ।

साधुओं के मन में दया तो होती ही है, किन्तु माया नहीं रहती । दया और माया दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं । दूसरे को क्लेश में देख कर, उस क्लेश को दूर करने के लिये जिस किसी के जो इच्छा उत्पन्न होती है, उसका नाम दया है । दूसरे के स्नेह, सेवा और उपकार रूपी गुणों पर मुग्ध होना माया है । गृहस्थाश्रम

में जो रहते हैं, वे प्रायः सभी माया पर आरुढ़ हैं। साधु विजयकृष्ण स्त्री, पुत्र, कन्या तथा अन्य कुटुम्बियों के साथ रह कर जीवन का समय पूरा करते थे, किन्तु माया ने उन पर अपना अधिकार नहीं जमा पाया था। वृन्दावन में उनकी जीवन-सङ्गिनी सहधर्मिणी को हैजे की बीमारी हुई। डाक्टर, हकीम, वैद्य आदि जिस समय उसके जीवन की आशा से हताश हो बैठे, और गोस्वामी जी के कुटुम्बी, शिष्यमण्डली एवं ब्रजवासी अत्यन्त चिन्तित हुए, उस समय उनका जैसा भाव परिलक्षित हुआ था, वह भाव एकबार श्रीवृन्दावन के बाहिर भी देखा गया था। उनके नियमित हरिनाम जप, हरिनाम सङ्कीर्तन आदि नित्य नैमित्तिक कार्यों में इस आपत्ति से न तो कुछ व्यतिक्रम पड़ा और न उनका मन ही चञ्चल हुआ। जिसको गोस्वामी जी शरीर से बढ़ कर प्रिय समझते थे, जो विवाह होने के समय से सदा उनकी चिरसङ्गिनी रही, उसका शारीरिक वियोग उनको तिल भर भी विचलित न कर सका।

उनकी अठारह वर्ष की कन्या कलकत्ते में तुरन्त ज्वर रोग से आक्रान्त हुई। कन्या को मूर्च्छित देख, जब सब लोग चिन्तित और व्यस्त थे एवं भावी शोक की कार्लिमा सब के मुख पर छागयी थी, तब जिनकी कन्या थी, वे अपने आसन ही पर बैठे थे और अपना नियमित पाठ करते थे। उनके मुख पर चिन्ता या व्यग्रता का कोई चिन्ह दिखलायी नहीं पड़ता था। कन्या के मरने पर जब घर में रोना पीटना होने लगा ; तब भी वे प्रशान्त चित्त से पाठ कर रहे थे। मृत्यु होने के थोड़ी देर बाद गोस्वामी जी ने अपने शिष्यों को यह आज्ञा दी कि “जिस कमरे में शव है, वहाँ जाकर कीर्तन करो।” हरिकीर्तन आरम्भ होते ही वे उस कमरे में गये और प्रेम

के आवेष में भर नाचने लगे। उस समय उनको अपने शरीर की कुछ भी सुध नहीं थी। कीर्त्तन समाप्त होने पर गोस्वामी जी ने कन्या के सिर पर अपना पैर ठुआया और वे अपने आसन पर जा कर बैठ रहे। जिस कन्या को उन्होंने बड़े स्नेह से पालपोस कर इतना बड़ा किया था, उसको इस प्रकार उन्होंने बिदा किया। इसीसे जान पड़ता है कि, वे माया के बशीभूत नहीं थे।

सन्ध्या के समय नित्य ही इनके घर में हरिसङ्कीर्त्तन होता था। सङ्कीर्त्तन सुनते सुनते वे अपने शरीर की सुध बिसार कर और प्रेम में मग्न हो, जब नृत्य करने लगते थे, तब वहाँ उपस्थित सभी लोगों के मन में भक्तिरस का उदय हो जाता था। उस समय उनके पलकहीन, स्थिर नेत्र और ऊपर की ओर दृष्टि एवं माधुर्यपूर्ण वदन-कान्ति देख कर अभक्त के हृदय में भी भक्ति का सञ्चार होता था। जिन सब गुणों से मनुष्य का मन अलंकृत और समुज्ज्वल होता है, उनमें दया सर्वप्रधान है। दया प्रकाश करने के लिए नाना प्रकार के उपाय हैं। उनमें भी कायिक, वाचिक और आर्थिक दया ही प्रधान है। कोई व्यक्ति किसी प्रकार के कष्ट में हो और यदि अपने शारीरिक परिश्रम से उसका कष्ट दूर हो सके तो इसको कायिक दया कहते हैं। किसी को विपद् से निकालने के लिये यदि किसी से अनुरोध करना पड़े, तो उसे वाचिक दया कहते हैं। इसी प्रकार धन-दान द्वारा विपन्न व्यक्ति का उपकार करना आर्थिक दया कहलाती है। भक्तवीर विजयकृष्ण के हृदय में उक्त तीनों प्रकार की दया विद्यमान थी। अनेक निस्सहाय रोगियों की चिकित्सा के लिये गोस्वामी जी स्वयं औषधोपचार की व्यवस्था करते थे। स्वयं पथ्य बना कर उनको खिलाया करते थे। भिक्षुक द्वार पर

आकर विमुख नहीं जाता था। किसी को यदि अर्थाभाव होता और गोस्वामी जी को इसका समाचार मालूम हो जाता, तो वे यथासाध्य उसकी सहायता करते थे।

जिन दिनों ब्राह्मसमाज की ओर से धर्मप्रचारार्थ गोस्वामी जी वैरीसाल गये, उस समय उनके एक मित्र ने उन्हें एक ऊनी बहुमूल्य वस्त्र भेंट दिया। रास्ते में एक दुःखिया को जड़ाते देख गोस्वामी जी ने वह बहुमूल्य वस्त्र उसे उढ़ा दिया। सारांश यह कि, दूसरों का दुःख वे नहीं देख सकते थे।

बङ्गला सन् १३०४ में गोस्वामी जी जगन्नाथ पुरी गये। वहाँ दो वर्ष तक भगवदाराधन कर, बङ्गला सन् १३०६ में गोस्वामी जी परमधाम सिधारे। उनकी मृत्यु के विषय में यह जनश्रुति सुनी जाती है कि, किसी ईर्ष्यालु साधु ने उनके यश को न सह कर और विष पिला कर उनको मार डाला। मृत्यु के बाद उनका शरीर पुरी ही में नरेन्द्रसरोवर के उत्तर तट की ओर एक उद्यान में समाधिस्थ कर दिया गया।

विजयकृष्ण गोस्वामी के प्रबोध

वाक्यों की बानगी

(१)—साधुसङ्ग धर्मसाधन का एक प्रधान अङ्ग समझना चाहिये।

(२)—जब तक काम क्रोध रहेंगे, तब तक वे समय समय पर मन में उदय होंगे; क्योंकि मन में उनका उदय होना स्वाभाविक है; किन्तु उनके मन में उत्पन्न होने पर उनको रोकने की यदि चेष्टा की जाय, तो पापकर्म नहीं हो सकता। इच्छापूर्वक आनन्द के लिये उनको काम में लाना ही पाप है। उनसे

संग्राम करने पर यदि परास्त होना पड़े तो भी कोई अपराध नहीं। जब तक त्रिगुणों के अधीन रहोगे, तब तक गुणानुसार तुमका चलना ही पड़ेगा।

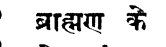
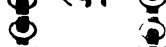
(३)—धर्म और अधर्म मन की अभिसन्धि के अनुसार होता है। मनुष्य-समाज जिसे पाप पुण्य समझता है, भगवान् उसके अनुसार विचार नहीं करते। वे तो मनुष्य का हृदय देख कर विचार करते हैं।

(४)—नाम ही औषधि है। प्रतिदिन नियमित रूप से थोड़ी ही देर साधन करे। कड़वी औषधि की तरह अच्छी न लगने पर भी थोड़े दिन तक निरन्तर साधन करने से उस आर रुचि बढ़ जाती है। जिस को नाम ही से अरुचि है उसका राग असाध्य है और उसकी कोई औषधि नहीं। पित्त बढ़ने से जिस समय मुँह कड़वा हो जाता है, उस समय मिश्री भी कड़वी लगने लगती है। किन्तु फिर खाते खाते मिश्री मीठी लगने लगती है।

(५)—जो सदा भीख माँगता है वह दान का पात्र नहीं। भय, स्नेह, लज्जा, मान, वंशमर्यादा, प्रत्युपकार की प्रत्याशा से दिया हुआ दान सच्चा दान नहीं है। स्वर्गकामना, पापमोचन और परकाल के लिये पुण्यसञ्चय की भावना से जो दान दिया जाता है, वह भी दान शब्द का यथार्थ अर्थवाची नहीं है। जिस प्रकार प्यास लगने पर लोग बड़ी व्यग्रता से जल पीते हैं, उसी प्रकार का पात्र देख कर दाता उसे दान दे और ऐसे के देने में कुशित न हो। दान देने से आनन्द की सीमा नहीं रहती।

स्वामी रामतीर्थ


 मी रामतीर्थ का जन्म एक दरिद्र सारस्वत

 स्वा
 
 ब्राह्मण के घर में ८ अक्टूबर सन् १८७३ ई०

 को पंजाब प्रान्त के गुजरानवाला ज़िले के

 अन्तर्गत मरालीवाल ग्राम में हुआ था।
 उनके पिता का नाम हीरानन्द था। रामतीर्थ जब बहुत ही
 छोटे थे; तब उनकी दयामयी जननी स्वर्गवासिनी हुई। अतः
 वे मातृसुख से वञ्चित रहे और उनका पालन पोषण उनकी
 बुढ़ा ने किया। स्वामी जी का नाम तीर्थराम गोस्वामी था।
 आपको आरम्भिक शिक्षा जन्म-ग्राम की ग्राम-पाठशाला ही में
 मिली। अनन्तर आपने अंगरेज़ी की प्रवेशिका परीक्षा गुजरान-
 वाला के हाई स्कूल से दी। स्वामी जी के पिता की आर्थिक
 स्थिति ऐसी न थी कि वे अपने पुत्र को अंगरेज़ी की बहुव्यय-
 साध्य शिक्षा दिला सकते; किन्तु गुजरानवाला निवासी विद्या-
 रसिक और भगवद्भक्त धन्ना नामक एक व्यक्ति के अनुरोध से
 हीरानन्दजी ने रामतीर्थ को गुजरानवाला में पढ़ने को भेज
 दिया। धन्ना भगत उनको अपने ही पास रखते थे। वैसे तो
 स्वामी जी में पूर्वसंस्कार के क्रम से भगवत्प्रेम था ही; किन्तु उस
 ओर प्रवृत्ति का कारण धन्ना भगत ही थे। रामतीर्थ को पाठशाला
 के निर्दिष्ट पाठ का अभ्यास कर चुकने पर जो समय मिलता,
 उसे वे धन्ना भगत के धर्मोपदेश के सुनने में व्यतीत करते थे।
 उनके उपदेश को स्वामी जी बड़े मनोयोग से सुनते थे।

प्रवेशिका परीक्षा पास कर चुकने पर हीरानन्द ने रामतीर्थ

को किसी धंधे में लगाना चाहा, किन्तु धन्ना भगत ने उन्हें रोक कर तीर्थराम को लाहौर के मिशन कालेज में भर्ती करवाया। वहीं से उन्होंने बी० ए० की डिग्री प्राप्त की और पंजाब विश्व-विद्यालय की बी० ए० परीक्षा में वे प्रथम हुए और उनको ६० मासिक की छात्रवृत्ति मिली। इसमें से वे कुछ अपने व्यय के लिये रख, शेष घर भेज देते थे। आपकी गणितविद्या में विशेष गति थी। मिशन कालेज से बी० ए० की डिग्री प्राप्त कर, वे दो वर्ष वहाँ के सरकारी विद्यालय में पढ़े और इक्कीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने एम० ए० की डिग्री प्राप्त की।

तीर्थराम बाल्यावस्था में जैसे क्षीणकाय थे, वैसे ही वे मानसिक बल से परिपुष्ट थे। वे सहनशील इतने थे कि, शारीरिक कष्टों को तुच्छ समझते थे; किन्तु अपने उद्देश को सिद्ध करना वे अपना परम कर्तव्य समझते थे। गुजरानवाला और लाहौर में अभी वे लोग विद्यमान हैं, जिन्होंने तीर्थराम को विद्योपार्जन की दशा में कष्टमय जीवन व्यतीत कर के विद्योपार्जन में दत्तचित्त होते देखा है। यद्यपि हमारा देश उदारता और दान के लिये प्रसिद्ध है, तथापि आजकल दान की शैली ऐसी कुछ नष्ट भ्रष्ट हुई है कि, जो दान अथवा आर्थिक सहायता के यथार्थ पात्र हैं, वे तो घञ्चित रहते हैं, किन्तु जिनको दान देने से केवल “विषवर्द्धन” की लांकोक्ति चरितार्थ होती है, वे दान पाकर उत्पात किया करते हैं। तीर्थराम को गुजरानवाले में कभी कभी कड़ाका कर के भी दिन व्यतीत करने पड़ते थे, किन्तु सहनशील रामतीर्थ का मुख सदा हर्षोत्फुल्ल और विकसित ही रहता था। स्वामी जी ने जो विद्या और ज्ञान उपार्जन किया और पीढ़े से जो उनके काम आया; वह उनके विद्यार्थी-जीवन की कठिन तपस्या का परिणाम था।

स्वामी रामतीर्थ विद्यार्थी—जीवन को बहुमूल्य समझ कर एक क्षण भी निरर्थक कर्मों में व्यतीत नहीं करते थे। जिन दिनों वे लाहौर में थे, उन दिनों उनकी दिन और रात्रिचर्या यह थी कि, वे पाँच बजे सबरे सोकर उठ बैठते थे। फिर सात बजे तक पढ़ते थे। अनन्तर शौचादि से निवृत्त होकर स्नान करके व्यायाम करते थे। अनन्तर भोजन कर कालेज जाते थे। कालेज से लौट कर डेरे पर आते और थोड़ी देर बाद घूमने के लिये नदी की ओर निकल जाते थे। वहाँ नदीतट पर वे आध घंटे टहलते थे। वहाँ से लौटते समय वे समस्त नगर की परिक्रमा करके उद्यानों में घूमते थे। घूमने फिरने के समय भी उनकी चिरसहवर्तिनी पुस्तक उनके हाथ ही में रहती थी और उससे वे निरन्तर काम लिया करते थे। घर पर पहुँच कर जब तक अन्धेरा न हो जाता; तब तक वे घर की छत पर टहल टहल कर पुस्तकावलोकन किया करते थे। अनन्तर व्यायाम कर सात बजे तक पढ़ते थे। फिर भोजन करके कुछ देर टहलते थे। टहल चुकने के बाद दस या बारह मिनिट फिर व्यायाम करते थे। अनन्तर १०॥ बजे तक पढ़ कर सो रहते थे। उन्होंने एक पत्र में भगत जी को लिखा था कि, “मेरे तज़रवे में यह आया है कि, अगर हमारा मेदा ऐन सेहत की हालत में रहे; तो हमें कमाल दर्जे का सुख^१, फरहत^२, दिल का एकसँ^३ होना, परमेश्वर की याद और पाकबननी^४ हासिल होती है। बुद्धि और धारणा शक्ति निहायत तेज़ होती है।”

तीर्थराम विद्यार्थी अवस्था में चारपाई पर जहाँ तक होता नहीं लेटते थे। उनको भूमि पर सोना ही अच्छा लगता

था। भोजन भी वे साधारण करते थे और मिताहारी थे। दिन में दो पतली रोटियों से अधिक खाते उन्हें किसी ने नहीं देखा। उनके दुग्धपान से बड़ा प्रेम था। वे अपने मित्रों का आदर सत्कार दूध ही से करते थे। वे अहिंसा प्रेमी थे, इसीसे मांसाहार करना वे महापाप समझते थे। जिनके साथ वे रहते थे : उन्हें वे अपना कुटुम्बी जैसा समझने लगते थे। उनका उद्वाव पहनाव भी सादा था। यहाँ तक कि, वे गर्मियों में गज़ी की धोती और एक कुर्ता मात्र पहनते तथा सिर खुला रखते थे। जब कहीं बाहर जाना होता ; तब सिर पर साधारण मलमल का साफा लपेट लिया करते थे। जाड़े की ऋतु में वे पट्टू का एक क़ोट और पहिन लिया करते थे। अङ्गरेज़ी वस्त्र और जूतों से उन्हें घृणा थी। जिस युवक की पेसी सादी रहन सहन हो, उसके चरित्रबल के विषय में लिखना अनावश्यक है। यदि वे बाल्यावस्था में चरित्रवान् न होते, तो उनकी यथार्थ प्रवृत्ति उस उच्च उद्देश्य की ओर कभी न होती, जिसके लिये वे पीछे से सर्वमान्य कहलाये।

जबवे लाहौर में विद्योपार्जन का कार्य समाप्त करके विश्वविद्यालय की सर्वोच्च पदवी प्राप्त कर चुके, तब गवर्नमेण्ट कालेज के प्रधानाध्यापक ने उनकी प्रान्तीय सिविल सर्विस के लिये सिफारिश करनी चाही। इस पर तीर्थराम ने प्रधानाध्यापक को जो उत्तर दिया, उसीसे लोगों को उनके भावी जीवन का भविष्य विदित हो गया था। उन्होंने साश्रुनेत्र और गद्गद कण्ठ से कहा—“इतना परिश्रम कर मैंने जो यह फसल तयार की है, वह बेचने के लिये नहीं, किन्तु बाँटने के लिये की है।”

इस उक्ति को चरितार्थ करने के लिये तीर्थराम ने स्याल-कोट के मिशन कालेज में गणिताध्यापक का पद अङ्गीकार किया। उस पद पर नियुक्त रह कर, उन्होंने सबसे प्रथम एक पुस्तक प्रकाशित की जिसका नाम है “How to study Mathematics ?” अर्थात् गणित किस प्रकार सीखना चाहिये ; इस पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि, “जिस प्रकार गुरु और गरिष्ठ भोजन करने से वह देर में परिपाक होता है, उसी प्रकार कैसा ही प्रतिभाशाली विद्यार्थी क्यों न हो, यदि अतिक्लिष्ट विषयों से उसका मस्तिष्क लाद दिया जाय, तो वह अयोग्य और सुस्त हो जाता है।” तीर्थराम ख्याति प्राप्ति के लिये न तो लिखते और न उपदेश देते थे। वे जो कुछ लिखते या कहते थे, वह दूसरों को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से। एक बात और थी, वे किसी के कहने से या पुस्तकों को पढ़ कर, दूसरों को किसी बात का उपदेश नहीं करते थे। जो कुछ वे कहते या लिखते, उसका पहले स्वयं अनुभव कर लिया करते थे। फारसी में हाफिज, अत्तार, मौलाना, रूम और शमसतबरेज़ ; हिन्दी में सूर और तुलसी, अङ्गरेज़ी में इमरसन, स्काट, गोथी और कारलाइल के ग्रन्थ वे बड़े मनोयोग से सदा पढ़ा करते थे।

स्यालकोट में कुछ दिनों रहकर तीर्थराम लाहौर के मिशन कालेज में उपअध्यापक हो कर गये। वहाँ भी उन्होंने अपने शरीर और मन के दोषों को दूर कर, शरीर और स्वभाव को सुन्दर और उन्नत किया। जब स्वामी जी दो पुत्र और एक लड़की के पिता भी हो गये ; तब सन् १८९९ के अन्त में एक दिन नौकरी छोड़ वे हिमालय की ओर चल दिये। पंजाब प्रान्त में यह पहला ही अवसर था कि, इतना पढ़ा लिखा एक युवक घर की मोह ममता को तोड़ गेरुआ वस्त्र धारण कर, संन्यासी हो जाय। उनके

संन्यासी होने पर वहाँ वालों ने बड़ा आश्चर्य माना, पर बाल्यावस्था से जो उनके स्वभाव से परिचित थे, उनके आश्चर्य न हुआ। गृहस्थाश्रम त्यागने पर उनके विषय में सामयिक पत्रों में अनेक कविताएँ छपी गयीं। उनमें से उदाहरण स्वरूप, “सुदर्शन” में प्रकाशित एक कविता हम नीचे उद्धृत करते हैं।

युवा संन्यासी

[१]

गुणनिधान मतिमान सुखी सब, भाँति एक लवपुर वासी ।
युवाश्रवस्था बीच विप्रकुल-केतु हुआ है संन्यासी ॥
विविधि-रीति से उस विरक्तको, सुहृद्बन्धु समझाय थके ।
गङ्गाजी के प्रवाह ज्यों, पर उसे न वे सब रोक सके ।

[२]

वृद्ध पिता माता की आशा, बिन व्याही कन्या का भार ।
शिक्षा हीनसुतों की ममता, पतिव्रता नारी का प्यार ॥
सन्मित्रों की प्रीति और कालिज वालों का निर्मल प्रेम ।
त्याग एक अनुराग किया, उसने विराग में तज सब नेम ॥

[३]

“प्राणनाथ ! बालक सुत दुहिता,” यों कहती प्यारी छोड़ी ।
“हाय ! वत्स वृद्धा के धन,” यों रोती महतारी छोड़ी ॥
चिर सहचरी “रियाजी” छोड़ी, रम्यतटी राबी छोड़ी ।
शिखा सूत्र के साथ हाय, उन बेली पञ्जाबी छोड़ी ॥

[४]

धन्य पञ्चनद भूमि जहाँ इस, बड़भागी ने जन्म लिया ।
धन्य जनक जननी जिनके घर, इस त्यागी ने जन्म लिया ॥

धन्य सती जिसका पति मरने से पहिले हो जाय अमर ।
धन्य धन्य सन्तान पिता, जिनका जगदीश्वर पर निर्भर ॥

[५]

शोकग्रस्त हो गयी लवपुरी, उसकी हुई बिदाई जब ।
द्रवीभूत कैसे न होय मन ? संन्यासी हो भाई जब ॥
खिन्न अश्रुमुख वृद्ध लगे कहने, “मङ्गल तव मारग हो ।
जीवनमुक्त सहाय ब्रह्म-विद्या में सत्वर पारग हो ॥”

[६]

कुछ मित्रों ने हृदय थाम कर, कहा कि प्यारे सुन लेना ।
बात अन्त की आज हमारी, ज़रा ध्यान इस पर देना ॥
समदर्शी ऋषि मुनियों को भी, भारत प्यारा लगता था ।
इस कारण यह विद्या बल में, जग से न्यारे लगता था ॥

[७]

सर्वत्याग कर महाभाग जो, देशोन्नति में दे जीवन ।
धन्यवाद देते हैं सुरगण भी उसको हो प्रमुदित-मन ॥
“अपनी भाषा भेष भाव औ, भोजन प्यारे भाइन को ।”
नहीं समझता, उत्तम समझौ, उससे भली लुगाइन को ॥”

[८]

“एवमस्तु”—कर उच्चारन, इन सब के उसने उत्तर में ।
कहा—“अलविदा” और चला वह, मनभावन उस अवसर में ॥
लगे बरसने फूल और जय, जय की हो तब उठी ध्वनी ।
मानों भिलुक नहीं, वहाँ से, चला विश्व का कोई धनी ॥

[९]

ज्यों नगरों में होय स्वच्छता, जब आता है कोई लाट ।
त्यो वन पर्वत प्रकृति-परिष्कृत, हुए समझ मानों सम्राट ॥

निष्कण्टक पथ हुआ पवन से, वारिद ने जल छिड़क दिया ।
कड़क तड़ित् ने दई सलामी, आनपत्र वृत्तों ने किया ॥

[१०]

विहङ्गकुल ने निज कलख से, उसका स्वागत गान किया ।
श्वापद शान्त हुए मृगगण ने, दक्षिण में आमान किया ॥
श्रेणीबद्ध फलित तरुओं ने, उसको झुककर किया प्रणाम ।
पुष्पित लता और बिरवां ने कुसुम बिछाये राह तमाम ॥

[११]

खड़ा हिमालय निज उन्नत, मस्त्रक पर तत्पद धारण को ।
हुई तरङ्गित सुरधुनि तब, अभिवेक पुनीत करावन को ॥
शिक्षा देती मानों सब को, जननी रूप प्रकृति सारी ।
“विषय-विरक्त-ब्रह्म-चिन्तन-रत, नर के सब आज्ञाकारी ॥”

तीर्थराम ने २७वीं वर्ष के आरम्भ में संन्यास ग्रहण किया और तब से उनका नाम स्वामी रामतर्था हुआ, किन्तु वे अपने को केवल “राम” ही कहते और ‘राम’ ही लिखते थे । कभी कभी जब वे भावमग्न हो जाते तब अपने को ‘राम पादशाह’ भी कहने लगते थे । स्वामी जी ने हिमालय की परम पावनी तपो-भूमि में लगभग दो वर्ष तक निर्जन स्थान में रहकर आध्यात्मिक शक्ति बढ़ायी । वे “सोऽहं” वादी थे । वे सदा ओम् का उच्चारण किया करते थे । उनके मुख पर शांति और आनन्द बरसता था । उनसे मिलने चाहे जैसा उदासीन पुरुष जाय, पर उनके ओंकार शब्द के उच्चारण की लय और हर्षोत्फुल्ल मुखाकृति देख कर, उसकी उदासीनता प्रसन्नता में परिणत हो जाती थी । जब कोई उनसे किसी विषय की जिज्ञासा करता, तब वे बड़े कोमल और भावभरित शब्दों में उत्तर दिया करते थे । वे उपदेश करते

समय भाव में मग्न हो जाते थे। उनके नेत्रों से अविराम अश्रु-प्रवाह प्रवाहित होने लगता और कराठ गद्गद हो जाता था। उनके मुख पर शान्ति और आनन्द के साथ साथ तेजस्विता भी परिलक्षित होती थी।

संन्यासी होने के बाद हिमालय से लौट कर पहिला व्याख्यान आपका मथुरा के धर्ममहोत्सव में हुआ था। उक्त महोत्सव का अधिवेशन शामियाने के नीचे हुआ करता था। जब स्वामी रामतीर्थ के बोलने का समय आया; तब उन्होंने व्याख्यान देना आरम्भ किया। व्याख्यान देते ही देते वे बोलते—“जेप व्याख्यान इस शामियाने के नीचे न होगा, बल्कि उस जगह होगा जहाँ कुदरत ने आकाश का बड़ा शामियाना लगा रखा है और जहाँ श्रीयमुनाजी ने नर्म और बारीक रेत का मुलायम फर्श बिछा रखा है।” यह कह कर वे वहाँ से चल दिये और यमुना तट पर व्याख्यान दिया। लोग उनके सत्यवचनों पर इतने मुग्ध थे कि पूस की सर्दी का कुछ भी विचार न कर, वे यमुना जी की हिमतुल्य बालुका पर बैठ कर, रात के आठ बजे तक राम तीर्थ का व्याख्यान सुनते रहे। स्वामी जी अरबी फारसी में बड़े योग्य थे। व्याख्यानों में वे फारसी व अरबी के प्रायः प्रमाण पढ़ा करते थे। वे बहुधा यह पढ़ा करते थे:—

बादशाह दुनियाँ के हैं मुहरे मेरी शतरंग के।

दिल्ली की चाल है सब रंग सुलह व जंग के ॥

सन् १९०२ के आरम्भ में स्वामी जी मिश्र, अमेरिका, जापान आदि देशों में गये। जापान में उन्होंने जब देखा कि, भारतीय विद्यार्थी गणित में पर्याप्त ज्ञान न रखने के कारण वहाँ के विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट नहीं हो पाते; तब वे उनको गणित स्वयं पढ़ाने लगे और उन्हें गणित में पर्याप्त ज्ञान करा दिया।

इसी प्रकार उन्होंने अमेरिका में भारतवासी विद्यार्थियों को सहायता पहुँचायी। अमेरिका के प्रेसीडेंट से रामतीर्थ दो बार जा कर मिले थे। बातचीत में प्रेसीडेंट ने यह इच्छा प्रकट की कि स्वामी जी उनसे कुछ याचना करें। प्रेसीडेंट के मन का भाव समझ स्वामी जी ने कहा—“सारी दुनियाँ की दौलत और सब बादशाहों की बादशाहत राम ही की तो है, राम बादशाह तो बेपरवाह है और सारे शाहों का गहंशाह है। क्या राम माँगने के लिये फ़कीर हुआ है ? हरगिज़ नहीं।”

राम ने अमेरिका में वेदान्त तन्त्रों का उपदेश देकर वहाँ के नर नारियों को अपने वश में कर लिया था। वहाँ वाले उनकी ईश्वर या मसीह का अवतार समझने लगे थे। लोगों के आग्रह से दिन में उन्हें छः छः बार व्याख्यान देने पड़ते थे। उन्होंने अमेरिका में जिन विषयों पर व्याख्यान दिये, उनमें से कुछ का नामोल्लेख नीचे किया जाता है :—

1. What art thou ?
2. The History of Happiness.
3. Home of Happiness.
4. Unrivalled self.
5. The Light of Lights.
6. Man the Master of his own Destiny.
7. Oneness of Mankind.
8. The Why and Wherefore of the World.
9. The Immutable in the Mutable.
10. The Secret of Success.
11. Expansion of self.

12. Realization of God through Love.
13. Realization of God through Action
14. Concentration.

अमेरिकावासियों के चित्त पर राम ने ऐसा प्रभाव डाला था कि, वह उनके वहाँ से चले आने पर भी दूर न हो सका। यहाँ तक कि, अमेरिकावासिनी वृद्धा मिसेज़ वेलमेन राम के स्नेह में पड़ उन्हें देखने के लिये यहाँ आयीं और उनके पीछे बेचारी अनेक वन पहाड़ों में धूमती फिरीं। अन्त में वे उनकी जन्मभूमि को देखती भातती अमेरिका लौट गयीं। वह स्वयं ओम् का जाप किया करतीं और अपने तोते को भी यही पढ़ाती थीं। अमेरिका में रामतीर्थ की स्थापित की हुई "स्वामी राम सुसाइटी" नाम की एक समिति भी है।

मिश्र देश में स्वामी जी ने मसजिद में जाकर फ़ारसी में मुसलमानों को धर्मोपदेश दिया, जिसे सुन वहाँ के मुसलमान स्वामी जी पर मोहित हो गये।

स्वामी जी में साधना करते करते इतना बल बढ़ गया था कि, उनके सामने जाते ही चाहे जैसे विचार का मनुष्य क्यों न हो वह उनका इच्छानुवर्त्ती हो जाता था। सन् १९०२ की फरवरी की बात है। स्वामी जी फैजाबाद गये। वहाँ के एक मौलवी जिगीषावृत्ति से उनके पास गये। किन्तु ज्योंही उनके साथ मौलवी साहब की दो चार बातें हुई, त्योंही मौलवी साहब के नेत्रों से अश्रुबिन्दु टपकने लगे और बड़ी दीनता से वे कहने लगे—“ऐ राम ! मैं तुझको ऐसा नहीं जानता था। अब मेरा कुसूर माफ़ कर।”

स्वामी जी, टेहरी, गढ़वाल के ऊपर एक पहाड़ पर कुटी में रहते थे। उनके शिष्य भक्त हरी जी और पूरन जी उनसे

मिलने के लिये, सन् १९०६ के अगस्त मास में गये। उन्होंने अपनी यात्रा-पुस्तक में लिखा है कि, स्वामी जी केवल दूध पी कर ब्रह्मविद्या का अभ्यास करते थे। उनका आश्रम ऐसे रमणीक स्थान में था कि उसका वर्णन करना लेखनी की शक्ति के परे है। वह स्थान प्राकृतिक शोभा का अनन्त भाण्डार था। स्वामी रामतीर्थ जी ने उसी समय हरी से कई लोगों को चिट्ठियाँ लिखवायीं। उनमें लिखाया कि, “अगर आपको राम से मिलना हो, तो सितम्बर मास में आकर मिल जाइये, नहीं तो फिर मिलने का अवसर न मिलेगा।” स्वामी जी की महायात्रा की इसे पूर्वसूचना समझनी चाहिये। क्योंकि इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद अर्थात् १७ अक्टूबर सन् १९०६ ई० को दिवाली के दिन, आठ दिन कम ३३ वर्ष की अवस्था में, उन्होंने अपनी प्यारी “गङ्गी” * की गोद में सदा के लिये शयन किया। अन्तिम शयन करने के पूर्व उन्होंने अपने अधूरे लेख पूरे किये। अन्तिम लेख जो उन्होंने शरीरत्याग के कुछ क्षण पूर्व लिखा था। वह यह है :—

“ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, गङ्गा, भारत ! ऐ मौत बेशक उड़ा दे इस एक जिस्म को मेरे। और अज्ञसाम ही मुझे कुछ कन नहीं। सिर्फ चाँद की किरणें चाँदी के तार पहन कर, चैन से काट सकता हूँ। पहाड़ी नदी नालों के वेष में गीत गाता फिरूँगा। बहरमन्वाज़ के लिबास में जहराता फिरूँगा। मैं ही बादे खुशखिराम नसीम मस्ताना गाम हूँ। मेरी यह सूरत सैजानी हरवक्त रवाई में रहती है। इस रूप में पहाड़ों से उतरा पौधों को ताजा किया। गुलों को हंसाया, बुलबुल को रुलाया, दरवाज़ों को खटखटाया, सोतों को जगाया, किसी का आँसू पोंछा,

* स्वामी जी गङ्गा को “गङ्गी” कहा करते थे।

किसी का घूंघट उड़ाया । इसको छेड़ा उसको छेड़ वह गया वह गया न कुछ साथ रक्खा न किसी के हाथ आया ।”

उपरोक्त लेख समाप्त कर स्वामी जी दोपहर के समय गङ्गा जी गये और गङ्गा के पवित्र जल में समाधिस्थ हुए । टेहरी के राजा ने उनके शरीर को बहुत दुढ़वाया , किन्तु पता न चला । किन्तु जब उनके शिष्य पूरन वहाँ पहुँचे तब उनका शरीर अपने आप एक गुफा के भीतर से निकल पानी पर तैरने लगा । वे पद्मासन मारे बैठे थे । उनके नेत्र बन्द थे, गरदन सतर थी । मुख उसी प्रकार था, जैसा ओम् के उच्चारण करने में खुला करता था ।

स्वामी रामतीर्थ की रचना का

एक उदाहरण

गङ्गा तै थूँ सद बलिहारी जाऊँ ,
 हाड़ चाम सब बार के फेकूँ ,
 यही फूल बताशा लाऊँ ॥ १ ॥ गङ्गा०
 मन तेरे वन्दन को देदूँ ।
 बुद्धि धारा में बहाऊँ ॥ २ ॥ गङ्गा०
 चित तेरी मङ्गली चब जावैं ।
 अहं गिरिगुहा में दबाऊँ ॥ ३ ॥ गङ्गा०
 पाप पुण्य सब ही सुलगा कर ।
 तेरी जेति जगाऊँ ॥ ४ ॥ गङ्गा०
 तुझ में पड़ूँ तो तू बन जाऊँ ।
 ऐसी डुबकी लगाऊँ ॥ ५ ॥ गङ्गा०

पिङ्गे जल थल पवन विष्णोदक ।
 अपने रूप बनाऊँ ॥ ६ ॥ गङ्गा०
 रमण करूँ सतधारा में,
 नहीं तो नाम न राम धराऊँ ॥ ७ ॥ गङ्गा०

॥ इति ॥

